

भगवान बादरायणव्यासप्रणीत शारीरकमीमांसाशास्त्र

के प्रथम चार सूत्र (चतुःसूत्री)

एवं उस पर पूज्यपाद श्रीशङ्कराचार्यकृत भाष्य

तथा उन दोनों का सरल सीधे-सादे हिन्दी शब्दों में अनुवाद

~~~~~0~~~~~

श्रीशङ्कराचार्यकृत भूमिका (अध्यासभाष्य)

युष्मत्-अस्मत्-प्रत्यय-गोचरयोः विषय-विषयिणोः तमः-प्रकाशवत्-  
विरुद्ध-स्वभावयोः इतर-इतर-भाव-अनुपपत्तौ सिद्धायां तत्-धर्माणाम्  
अपि सुतराम् इतर-इतर-भाव-अनुपपत्तिः इति अतः अस्मत्-प्रत्यय-  
गोचरे विषयिणि चित्-आत्मके युष्मत्-प्रत्यय-गोचरस्य विषयस्य तत्-  
धर्माणां च अध्यासः तत्-विपर्ययेण विषयिणः तत्-धर्माणां च विषये  
अध्यासः मिथ्या इति भवितुं युक्तम्॥१॥

‘तू’ कहने पर जो अनुभव होता है, उसके भीतर जिसका ज्ञान होता है, वह  
‘विषय’ (जिसका अनुभव किया जाए), तथा ‘मैं’ कहने पर जो अनुभव होता है, उसके  
भीतर जिसका ज्ञान होता है, वह ‘विषयी’ अर्थात् ‘अनुभवनेवाला’ – ये दोनों  
अन्धकार और प्रकाश के समान परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले पदार्थों में एक-दूसरे को  
परस्पर का भाव प्राप्त हो जाना अर्थात् ‘तू’ के स्थान पर ‘मैं’ हो जाना और ‘मैं’ के  
स्थान पर ‘तू’ हो जाना किसी प्रकार सम्भव नहीं – यह स्वतःसिद्ध होने के कारण  
‘विषय’ के गुणधर्मों का ‘अनुभवनेवाले’ के गुणधर्म हो जाना तथा ‘अनुभवनेवाले’ के  
गुणधर्मों का ‘विषय’ के गुणधर्म हो जाना भी कतई सम्भव नहीं हो सकता। अतएव  
‘मैं’ रूप अनुभव में प्रकटनेवाले – ज्ञानस्वरूपी, ‘अनुभवनेवाले’-पर ‘तू’ रूप प्रतीति  
में आनेवाला ‘विषय’ आरोपित हो जाए, अर्थात्, (हमारे बोधमें) ‘अनुभवनेवाले’ पर  
‘विषय’ चढ़कर बैठ जाए, या उस ‘तू’ रूप ‘विषय’ के गुणधर्म इस ज्ञानस्वरूप पर  
आरोपित हो जाएँ, अर्थात्, (हमारे बोधमें) चढ़कर बैठ जाएँ, यह बात ‘झूठ’ ही होनी  
चाहिए। उसी प्रकार ‘अनुभवनेवाला’ या उसके गुणधर्म, ‘तू’ कहलानेवाले ‘विषय’ का  
स्थान दखल कर लें, यह बात भी ‘झूठ’ ही होनी चाहिए॥१॥

तथा अपि अन्यः अन्यस्मिन् अन्यः अन्य-आत्मकताम् अन्यः अन्य-धर्मान्  
च अध्यस्य, इतर-इतर-अविवेकेन अत्यन्त-विविक्तयोः धर्म-धर्मिणोः,  
मिथ्या-ज्ञान-निमित्तः, सत्य-अनृते मिथुनीकृत्य, अहम् इदं मम इदम् इति  
नैसर्गिको अयं लोक-व्यवहारः॥ २॥

और फिर भी – जो एक-दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं, उनकी स्पष्टरूप में अलग-अलग प्रतीति न होने से लोगों के अनुभव में ये दोनों तथा उनके गुणधर्म एक-दूसरे पर चढ़ कर बैठे हुए हैं, – तभी तो झूठे ज्ञान के कारण, सत्स्वरूप आत्मा और असत्स्वरूप सारे पदार्थों की खिचड़ी बनाकर – यह शरीरादि 'मैं' हूँ और इनसे सम्बन्धित पदार्थ 'मेरे' हैं, इस प्रकार का स्वाभाविक लोकव्यवहार प्रत्यक्षतः होता ही रहता है॥ २॥

आह – कः अयम् अध्यासः नाम इति॥ ३॥

अच्छा जी, यह (हमारे बोधमें) एक-दूसरे पर चढ़कर बैठना क्या है?॥ ३॥

उच्यते – स्मृति-रूपः परत्र पूर्व-दृष्ट-अवभासः॥ ४॥

– तो यही कहना होगा कि यह पुराने किसी अनुभव की याद जैसा कुछ अन्य किसी पदार्थ पर आभासित होना ही है॥ ४॥

तं केचित् अन्यत्र अन्य-धर्म-अध्यासः इति वदन्ति॥ ५॥

कुछ लोग कहते हैं कि उसमें किसी अन्य पदार्थ पर अन्य पदार्थ के 'गुणधर्म' 'चढ़ जाते' हैं॥ ५॥

केचित् तु यत्र यत् अध्यासः तत्-विवेक-अग्रह-निबन्धनः भ्रमः इति॥ ६॥

परन्तु दूसरे कुछ लोग कहते हैं कि वह तो जिस पर जो चढ़ा हुआ 'दीखता' है उसकी अलग प्रतीति न होने से उत्पन्न होनेवाला 'भ्रम' है॥ ६॥

अन्ये तु यत्र यत् अध्यासः तस्य एव विपरीत-धर्मत्व-कल्पनाम् आचक्षते इति॥ ७॥

किन्तु इनसे भिन्न कुछ लोग कहते हैं कि उसमें तो जिस वस्तु पर कुछ चढ़ा हुआ दीखता है उस वस्तु की ही 'विपरीत गुणधर्मोंवाला होने की कल्पना' कर ली जाती है॥ ७॥

सर्वथा अपि तु अन्यस्य अन्य-धर्म-अवभासतां न व्यभिचरति॥ ८॥

कोई किसी भी प्रकार से वर्णन करे, यह स्पष्ट है कि किसी भिन्न पदार्थ के गुणधर्म किसी अन्य पदार्थ के गुणधर्म होने का आभास होना तो सभी वर्णनों में वैसा का वैसा ही है॥८॥

तथा च लोके अनुभवः शक्तिका हि रजतवद् अवभासते, एकः चन्द्रः सद्वितीयवद् इति॥ ९॥

और अनुभव भी इस दुनिया में वैसा ही होता है – सीप ही चाँदी-जैसी दिखने लगती है और एक ही चन्द्रमा के दुहरा होने का आभास हो जाता है॥ ९॥

कथं पुनः प्रत्यक्-आत्मनि अविषये अध्यासः विषय-तत्-धर्माणाम्?॥ १०॥

तो फिर सवाल होता है कि जो विषय नहीं होता, ऐसे भीतरी 'खुद' या 'स्वयं' पर विषयों का या उनके गुणधर्मों का चढ़ना कैसे सम्भव है?॥ १०॥

सर्वः हि पुरो अवस्थिते विषये विषय-अन्तरम् अध्यस्यति, युष्मत्-प्रत्यय-अपेतस्य च प्रत्यक्-आत्मनो अविषयत्वं ब्रवीषि॥ ११॥

सभी तो सामनेवाले किसी विषय पर ही किसी दूसरे विषय को चढ़ा हुआ देखते हैं और आप तो कहते हैं कि जो 'तू' रूप अनुभवसे विपरीत है, वह भीतरी 'खुद' या 'निजी स्वरूप' कभी 'विषय' नहीं बन सकता॥ ११॥

उच्यते – न तावद् अयम् एकान्तेन अविषयः, अस्मत्-प्रत्यय-विषयत्वात्, अपरोक्षत्वात् च प्रत्यक्-आत्म-प्रसिद्धेः॥ १२॥

जवाब है कि यह 'खुद' कभी अनुभव में आता ही नहीं, ऐसा नहीं है – 'मैं' कहने पर जो अनुभव होता है, उसमें तो यह 'खुद' होता ही है। इन्द्रियादि किसी माध्यम के बिना ही वह अनुभव में प्रकटित होता है और भीतरी आत्मा के रूप में वह अच्छी तरह ज्ञात भी है॥ १२॥

न च अयम् अस्ति नियमः पुरः अवस्थिते एव विषये विषय-अन्तरम् अध्यसितव्यम् इति॥ १३॥

और फिर ऐसा कोई नियम भी तो नहीं है कि सामने अवस्थित होकर दिखाई देनेवाले विषय पर ही किसी दूसरे विषय को चढ़ा कर बैठा दिया जा सकता है॥ १३॥

अप्रत्यक्षे अपि हि आकाशे बालाः तल-मलिनता-आदि अध्यस्यन्ति॥ १४॥

आकाश तो दृष्टि आदि इन्द्रियों का विषय है नहीं, और फिर भी अज्ञानी जनों के अनुभव में उसका 'तली'वाला होना और नीला-मैला होना तो 'चढ़ा हुआ' होता ही है॥ १४॥

एवम् अविरुद्धः प्रत्यक्-आत्मनि अपि अनात्म-अध्यासः॥ १५॥

इसी प्रकार भीतरी 'खुद' पर जो 'खुद' नहीं है ऐसे पदार्थों का चढ़ा हुआ होना अनुभव के विरुद्ध बात नहीं है॥ १५॥

तम् एतम् एवं लक्षणम् अध्यासं पण्डिताः अविद्या इति मन्यन्ते॥ १६॥

उस इस प्रकार से एक-दूसरे पर चढ़ा दिये जाने को ज्ञानीजन 'अविद्या' संज्ञा देते हैं॥ १६॥

तत्-विवेकेन च वस्तु-स्वरूप-अवधारणं विद्याम् आहुः॥ १७॥

और इन दोनों को अलग-अलग जानकर वस्तु के स्वरूप का निश्चित ज्ञान कर लेने को 'विद्या' कहते हैं॥ १७॥

तत्र एवं सति यत्र यत्-अध्यासः तत्-कृतेन दोषेण गुणेन वा अणु-मात्रेण अपि स न सम्बध्यते॥ १८॥

क्योंकि यह बात ऐसी है इसलिए जिस वस्तु पर जो पदार्थ 'चढ़ा दिया' जाता है उसके दोषों का या गुणों का उस वस्तुके साथ जरा भी सम्बन्ध नहीं होता॥ १८॥

तम् एतम् अविद्या-आख्यम् आत्म-अनात्मनोः इतर-इतर-अध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाण-प्रमेय-व्यवहाराः लौकिकाः वैदिकाः च प्रवृत्ताः॥१९॥

उस इस प्रकार से एक-दूसरे पर चढ़ा दिये जाने को जो 'अविद्या' कहा गया है, उस अविद्या के रहते हुए ही - 'किसी साधन से किसी जानने योग्य वस्तु को जान लेना और फिर उसीसे निष्पन्न होनेवाले व्यवहार' चल पड़ते हैं - चाहे वह जानना और वह व्यवहार लौकिक हो अथवा वैदिक हो॥ १९॥

सर्वाणि च शास्त्राणि विधि-प्रतिषेध-मोक्षपराणि॥ २०॥

उसी प्रकार, 'ऐसा करो' और 'ऐसा मत करो' बतानेवाले शास्त्र एवं मोक्ष की ही ओर ले जानेवाले शास्त्र सारे इस अविद्या के रहते हुए ही कार्यकर होते हैं॥ २०॥

कथं पुनः अविद्यावत्-विषयाणि प्रत्यक्ष-आदीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च इति?॥ २१॥

शङ्का होती है कि जानने के प्रत्यक्षादि सारे साधन और शास्त्र अविद्यावाले के लिए होते हैं, यह कैसे?॥ २१॥

उच्यते - देह-इन्द्रिय-आदिषु अहं-मम-अभिमान-रहितस्य प्रमातृत्व-अनुपपत्तौ प्रमाण-प्रवृत्ति-अनुपपत्तेः॥ २२॥

जवाब है कि - शरीर, इन्द्रियाँ आदि के प्रति 'मैं-मेरा'रूप अभिमान न हो तो 'जाननेवाला मैं' ही नहीं बनता, और तब जानने के लिए कोई साधन चुनना भी नहीं हो सकता॥ २२॥

न हि इन्द्रियाणि अनुपादाय प्रत्यक्ष-आदि-व्यवहारः सम्भवति॥ २३॥

इन्द्रियों को लिये बिना प्रत्यक्ष अनुभव या उससे होनेवाले व्यवहार आदि सम्भव ही नहीं होते॥ २३॥

न च अधिष्ठानम् अन्तरेण इन्द्रियाणां व्यवहारः सम्भवति॥ २४॥

और फिर अधिष्ठान (शरीर) के बिना इन्द्रियाँ कार्य ही नहीं कर सकतीं॥ २४॥

न च अनध्यस्त-आत्म-भावेन देहेन कश्चिद् व्याप्रियते॥ २५॥

और शरीर पर जब तक 'खुद मैं हूँ' यह भाव न चढ़ाया जाए तब तक उससे कोई काम ही नहीं लिया जा सकता॥ २५॥

न च एतस्मिन् सर्वस्मिन् असति, असङ्गस्य आत्मनः प्रमातृत्वम् उपपद्यते॥ २६॥

और जब तक यह सब कुछ न हो तब तक 'निःसङ्ग' आत्मा 'जाननेवाला' हो ही नहीं सकता॥ २६॥

न च प्रमातृत्वम् अन्तरेण प्रमाण-प्रवृत्तिः अस्ति॥ २७॥

और 'जाननेवाले' के बिना जानने के साधनों का प्रयोग नहीं होता॥ २७॥

तस्माद् अविद्यावत्-विषयाणि एव प्रत्यक्ष-आदीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च ॥२८॥

अतएव, अविद्यावाले के लिए ही - जानने के प्रत्यक्षादि साधन और शास्त्र भी होते हैं॥ २८॥

पशु-आदिभिः च अ-विशेषात्॥ २९॥

और पशु आदि से मनुष्यों की इस बारे में कोई विशेषता न देखी जाने से भी यही पता चलता है॥ २९॥

यथा हि पशु-आदयः शब्द-आदिभिः श्रोत्र-आदीनां सम्बन्धे सति शब्द-आदि-विज्ञाने प्रतिकूले जाते ततः निवर्तन्ते अनुकूले च प्रवर्तन्ते; यथा दण्ड-उद्यत-करं पुरुषम् अभिमुखम् उपलभ्य मां हन्तुम् अयम् इच्छति इति पलायितुम् आरभन्ते, हरित-तृण-पूर्ण-पाणिम् उपलभ्य तं प्रति अभिमुखी भवन्ति; एवं पुरुषाः अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूर-दृष्टीन् आक्रोशतः खङ्ग-उद्यत-करान् बलवत् उपलभ्य ततः निवर्तन्ते, तत्-विपरीतान् प्रति प्रवर्तन्ते; अतः समानः पशु-आदिभिः पुरुषाणां प्रमाण-प्रमेय-व्यवहारः॥३०॥

जैसे पशु आदि में देखा जाता है कि आवाज इत्यादि का कान इत्यादि इन्द्रियों से सम्बन्ध होने पर जो ध्वनि इत्यादि का अनुभवात्मक ज्ञान हुआ वह खराब लगने पर वे उससे हट जाते हैं और अच्छा लगने पर उधर आगे बढ़ते हैं – उदाहरणार्थ, हाथ में डण्डा ऊपर उठाये हुए मनुष्य को देखकर 'यह मुझे मारना चाहता है' सोचकर वहाँ से भाग निकलते हैं तथा किसी के हाथ में हरी घास देखकर उसकी ओर आगे बढ़ते हैं; इसी प्रकार पढ़े-लिखे विद्वान मनुष्य भी – क्रूर दृष्टि से देखनेवाले, जोर जोर से चिल्लानेवाले, हाथ में तलवार लिये हुए, बलवान मनुष्य को देखकर वहाँ से हट जाते हैं और उससे बिल्कुल विपरीत दिखाई देनेवाले की ओर आगे बढ़ते हैं; इसलिए, जानने के साधनों से जानना और उससे निष्पन्न होनेवाले व्यवहार, इस बारे में पशु आदि का और मनुष्यों का आचरण एक-दूसरे जैसा ही है॥ ३०॥

पशु-आदीनां च प्रसिद्धः अविवेक-पुरःसरः प्रत्यक्ष-आदि-व्यवहारः; तत्-सामान्य-दर्शनात् व्युत्पत्तिमताम् अपि पुरुषाणां प्रत्यक्ष-आदि-व्यवहारः तत्कालः समान इति निश्चीयते॥ ३१॥

और पशु आदि का प्रत्यक्ष अनुभव और व्यवहार अविवेक के ही आधार पर होता है, यह बात तो सभी जानते हैं; उससे समानता देखी जाने के कारण पढ़े-लिखे विद्वान मनुष्यों का प्रत्यक्ष अनुभव और आचरण भी उस समय वैसा ही होता है, यह तो निश्चित ही सिद्ध होता है॥ ३१॥

शास्त्रीये तु व्यवहारे यदि अपि बुद्धि-पूर्वकारी न अविदित्वा आत्मनः परलोक-सम्बन्धम् अधिक्रियते तथा अपि न वेदान्त-वेद्यम् अज्ञानाया-आदि-अतीतम् अपेत-ब्रह्म-क्षत्र-आदि-भेदम् असंसारी आत्म-तत्त्वम् अधिकारे अपेक्ष्यते, अन्-उपयोगात् अधिकार-विरोधात् च॥ ३२॥

शास्त्रों के अनुसार जो आचरण होता है, उसके बारे में कहना होगा कि यद्यपि मरने के बाद फिरसे नया जन्म ग्रहण करनेवाली आत्मा का ज्ञान हुए बिना कोई समझ-बूझकर वैसा आचरण नहीं कर पाते, तथापि वेदान्त से जिसे जाना जाता है, उस – भूख-प्यास से परे, ब्राह्मण-क्षत्रियादि-भेदरहित, जन्म-मरण के फेरे में न पड़नेवाली – आत्मा का जो ज्ञान है, उसकी उस प्रकार के कर्म करने की योग्यता में कोई अपेक्षा नहीं है; क्योंकि उस स्वरूप-ज्ञान का उस प्रकार के कर्म में कोई उपयोग तो है नहीं, बल्कि वह ज्ञान तो उन कर्मों को करने की काबिलियत के विरुद्ध है॥ ३२॥

प्राक् च तथाभूत-आत्म-विज्ञानात् प्रवर्तमानं शास्त्रम् अविद्यावत्-विषयत्वं न अतिवर्तते॥ ३३॥

इस प्रकार के स्वरूपवाले 'खुद' को प्रत्यक्षानुभव से जान लेने के पहले जो शास्त्रों

का कार्य देखा जाता है, उसमें 'अविद्यावाले के लिए होने' का उल्लङ्घन नहीं होता॥३३॥

तथा हि 'ब्राह्मणो यजेत' इति आदीनि शास्त्राणि आत्मनि वर्ण-आश्रम-वयः-अवस्थादि-विशेष-अध्यासम् आश्रित्य प्रवर्तन्ते॥ ३४॥

जैसे कि "ब्राह्मण यज्ञ करे" इत्यादि शास्त्रवचन खुद में वर्ण, आश्रम, आयु, अवस्था आदि विशिष्टताओं को चढ़ा लेने का आश्रय लेकर ही चलते हैं॥ ३४॥

अध्यासः नाम अतस्मिन् तत्-बुद्धिः इति अवोचामा॥ ३५॥

'अध्यास' - 'चढ़ा लेना' का अर्थ है 'जो वह नहीं है, उसके बारे में वह बोध होना', यह हमने बता दिया है॥ ३५॥

तत् यथा पुत्र-भार्या-आदिषु विकलेषु सकलेषु वा अहम् एव विकलः सकलः वा इति बाह्य-धर्मान् आत्मनि अध्यस्यति; तथा देह-धर्मान् स्थूलः अहं, कृशः अहं, गौरः अहं, तिष्ठामि, गच्छामि, लङ्घयामि च इति; तथा इन्द्रिय-धर्मान् मूकः, काणः, क्लीबः, बधिरः, अन्धः अहम् इति; तथा अन्तःकरण-धर्मान् काम-संकल्प-विचिकित्सा-अध्यवसाय-आदीन्॥ ३६॥

वह, जैसे कि बेटा, पत्नी आदि के सकुशल न होने पर 'मैं सकुशल नहीं हूँ' और उनके सकुशल होने पर 'मैं सकुशल हूँ', इस तरह बाहर के गुणधर्मों को खुद पर चढ़ा लेता है; तथा 'मैं मोटा हूँ', 'मैं दुबला-पतला हूँ', 'मैं गोरा हूँ', 'मैं खड़ा हूँ', 'मैं जा रहा हूँ', 'मैं कूदता हूँ', इस तरह शरीर के गुणधर्मों को खुद पर चढ़ा लेता है; ऐसे ही, 'मैं गूँगा, काणा, नपुंसक, बहरा, अन्धा हूँ', इस तरह इन्द्रियों के गुणधर्मों को खुद पर चढ़ा लेता है; और इसी तरह, कामना, संकल्प, संशय, निश्चय आदि अन्तःकरण के गुणधर्मों को खुद पर चढ़ा लेता है॥ ३६॥

एवम् अहम्-प्रत्ययिनम् अशेष-स्वप्रचार-साक्षिणि प्रत्यक्-आत्मनि अध्यस्य तं च प्रत्यक्-आत्मानं सर्व-साक्षिणं तत्-विपर्ययेण अन्तःकरण-आदिषु अध्यस्यति॥ ३७॥

इस प्रकार, जिसमें 'मैं'रूप अनुभव होता है, उस अन्तःकरण को, उसकी सारी की सारी क्रियाओं के साक्षीस्वरूप भीतरवाले खुद पर चढ़ा लिया जाता है; और फिर उस सभी के साक्षीस्वरूप भीतरवाले खुद का भाव उस अन्तःकरण आदि पर चढ़ा लिया जाता है॥ ३७॥

एवम् अयम् अनादिः अनन्तः नैसर्गिकः अध्यासः मिथ्या-प्रत्यय-रूपः

कर्तृत्व-भोक्तृत्व-प्रवर्तकः सर्व-लोक-प्रत्यक्षः॥ ३८॥

यह जो अनादि-अनन्त, स्वाभाविक, 'चढ़ा लिया जाना', झूठे अनुभव के रूप में कर्तापन-भोक्तापन को उत्पन्न कर बढ़ानेवाला है, वह तो सभी की प्रत्यक्ष अनुभव की चीज़ है॥ ३८॥

अस्य अनर्थ-हेतोः प्रहाणाय, आत्म-एकत्व-विद्या-प्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ताः आरभ्यन्ते॥ ३९॥

इसी - सारे अनर्थों के मूल - को पूरी तौर से नष्ट करने के लिए - 'खुद' के स्वरूप में जो एकता है, उसका अनुभव कर लेने की विद्या सिखाने के लिए - सभी उपनिषदों का आरम्भ किया जाता है॥ ३९॥

यथा च अयम् अर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयम् अस्यां शारीरक-मीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः॥ ४०॥

सारे वेदान्तों का कैसे यही तात्पर्य है, यह हम इस शारीरक-मीमांसा में दिखाएँगे॥४०॥

### शारीरक-मीमांसा का प्रथम सूत्र

वेदान्त-मीमांसा-शास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्य इदम् आदिमं सूत्रम् -

वेदों का चरम ज्ञान वेदान्त कहलाता है, उसका सही तात्पर्य निश्चित करने के लिए जो शास्त्र बना, जिसको समझाने का प्रयास हम कर रहे हैं, उसका प्रारम्भिक सूत्र है -

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा॥ १॥

अथ = अब; अतः = इसलिए; ब्रह्मजिज्ञासा = सबसे परे और सबमें व्याप्त, हम सभी की निजी असलियत, जगत्कारण परमात्मा को जानने की, उसे प्रत्यक्ष अनुभव कर लेने की, उसे अच्छी-पूरी तरह जान लेने तक न रुकनेवाली इच्छा होती है, होनी चाहिए और उसे पूर्ण करने का प्रयास किया जा रहा है।

अत्र अथ शब्दः आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते न अधिकारार्थः, ब्रह्म-जिज्ञासायाः अनधिकार्यत्वात्।

यहाँ 'अथ = अब' शब्द 'किसी चीज के होने पर', इस अर्थ में लिया जाता है, 'किसी चीज के बाद किसी चीज को शुरू करने' के अर्थ में नहीं, क्योंकि ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने की इच्छा ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो किसी दूसरी वस्तु के



बाद शुरू की जा सके।

मङ्गलस्य च वाक्य-अर्थे समन्वय-अभावात्।

‘अथ’ शब्द का ‘मङ्गल’ अर्थ लेने पर उसकी वाक्य में सङ्गति नहीं बनती।

अर्थ-अन्तर-प्रयुक्तः एव हि अथ शब्दः श्रुत्या मङ्गल-प्रयोजनः भवति।

और दूसरे किसी अर्थ में लगाये जाने पर भी ‘अथ’ शब्द सुनने ही से मङ्गलकारक तो हो ही जाता है।

पूर्व-प्रकृत-अपेक्षायाः च फलतः आनन्तर्य-अव्यतिरेकात्।

‘उसके पहिले से कुछ चल रहा था’ ऐसा अर्थ लगाएँ तो वह ‘किसी चीज के होने पर’ ही तो हुआ।

सति च आनन्तर्य-अर्थत्वे यथा धर्म-जिज्ञासा पूर्व-वृत्तं वेद-अध्ययनं नियमेन अपेक्षते, एवं ब्रह्म-जिज्ञासा अपि यत् पूर्व-वृत्तं नियमेन अपेक्षते तत् वक्तव्यम्, स्वाध्याय-आनन्तर्यं तु समानम्।

जब ‘किसी चीज के होने पर’ यह अर्थ हुआ, तब फिर – जैसे धार्मिक कार्यों का सही अर्थ जानने के लिए वेदों का पढ़ना जरूरी होता है, वैसे ब्रह्म को जानने की प्रबल इच्छा के लिए जिस चीज का होना जरूरी है, उसे भी तो बताना होगा। केवल वेदों का पढ़ना दोनों में समान होने से उसे उस प्रबल इच्छा के लिए विशेष रूप में जरूरी नहीं कहा जा सकता।

ननु इह ब्रह्म(कर्म)-अवबोध-आनन्तर्यं विशेषः।

मन में आता है कि ‘ब्रह्म’ का अर्थात् ‘वैदिक कर्मों का’ ज्ञान होना उस प्रबल इच्छा के लिए विशेष रूप में जरूरी क्यों न मान लिया जाए?

न, धर्म-जिज्ञासायाः प्राक् अपि अधीत-वेदान्तस्य ब्रह्म-जिज्ञासा-उपपत्तेः।

तो कहना होगा कि ऐसा नहीं है; क्योंकि ‘वैदिक कर्मों का’ ज्ञान प्राप्त कर लेने की इच्छा होने से पहिले ही, जिसने वेदान्त पढ़ लिया हो, उसे – जगत्कारण परमात्मा को जानने की, प्रत्यक्ष अनुभव कर लेने की, वह प्राप्त होने तक न रुकनेवाली, इच्छा होने के दूसरे सबल कारण होते हैं।

यथा च हृदय-आदि अवदानानाम् आनन्तर्य-नियमः क्रमस्य विवक्षितत्वात् न तथा इह क्रमः विवक्षितः, शेष-शेषित्वे अधिकृत-अधिकारे वा प्रमाण-अभावात् धर्म-ब्रह्म-जिज्ञासयोः फल-जिज्ञास्य-भेदात् च।

जैसे किसी यज्ञ में आहुति देने के लिए पशु के हृदय आदि अङ्ग काटने के लिए 'किसके बाद कौनसा काटना', इसका नियम होता है, क्योंकि उसमें एक क्रम अभिप्रेत होता है, उस प्रकार यहाँ कोई क्रम अभिप्रेत नहीं है। ब्रह्मज्ञान की इच्छा और धार्मिक कर्मों को जान लेने की इच्छा, इनमें से कोई एक दूसरी का अङ्ग है और वह दूसरी इसे लेकर होती है, ऐसा मानने में कोई प्रमाण है नहीं और न इसमें कोई प्रमाण है कि 'एक का अधिकार पा लेने के बाद ही दूसरी का अधिकार प्राप्त होता है'। फिर 'ब्रह्मज्ञान की इच्छा' और 'धार्मिक कर्मों को जान लेने की इच्छा', इन दोनों के फल भी भिन्न हैं तथा जिज्ञास्य पदार्थ भी भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए भी उन दोनों में कोई क्रम अभिप्रेत नहीं है।

अभ्युदय-फलं धर्म-ज्ञानं, तत् च अनुष्ठान-अपेक्षम्।

धार्मिक कर्मों के ज्ञान का फल तो 'बाहरी उन्नति' है, और वह तो उन कर्मों का अनुष्ठान करने की अपेक्षा रखती है।

निःश्रेयस-फलं तु ब्रह्म-विज्ञानं न च अनुष्ठान-अन्तर-अपेक्षम्।

दूसरी ओर, स्वरूपभूत ब्रह्म के अनुभवात्मक ज्ञान का फल तो अन्तिम कल्याणरूप मोक्ष है, और वह किसी दूसरे अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं रखता।

भव्यः च धर्मः जिज्ञास्यः न ज्ञान-काले अस्ति, पुरुष-व्यापार-तन्त्रत्वात्।

जिन धार्मिक कार्यों को जानने की इच्छा होती है, वे भविष्यकालिक होते हैं, जब कोई उनका ज्ञान पाता है, उस समय वे उपस्थित नहीं होते हैं; क्योंकि वे साधक के करने, न करने पर निर्भर करते हैं।

इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यत्वात् न पुरुष-व्यापार-तन्त्रम्।

परन्तु, यहाँ तो जिस ब्रह्म को जानने की इच्छा होती है, वह पहले से ही विद्यमान है, और वह 'नित्य' होने के कारण साधक के करने, न करने पर निर्भर नहीं करता।

चोदना-प्रवृत्ति-भेदात् च।

वैदिक कर्मों के और ज्ञान के उपदेशों से उत्पन्न होनेवाली प्रवृत्तियाँ अलग-अलग होने के कारण भी उनमें कोई क्रम अपेक्षित नहीं है।

या हि चोदना धर्मस्य लक्षणं सा स्व-विषये नियुञ्जाना एव पुरुषम् अवबोधयति।

जो उपदेश धार्मिक कार्यों के लिए होते हैं, उनके जो विषय - धार्मिक कार्य, उसमें प्रयत्नशील मनुष्य को नियुक्त करते हुए ही वे उनका ज्ञान कराते हैं।

ब्रह्म-चोदना तु पुरुषम् अवबोधयति एव केवलम्, अवबोधस्य चोदना-  
जन्यत्वात् न पुरुषः अवबोधे नियुज्यते।

परन्तु ब्रह्मसम्बन्धी उपदेश तो साधक को केवल ज्ञान ही कराते हैं; ज्ञान जब उन  
उपदेशों से ही हो जाता है, तो 'ज्ञान में लग जाओ', इस प्रकार उसमें नियुक्त नहीं  
किया जाता।

यथा अक्ष-अर्थ-सन्निकर्षेण अर्थ-अवबोधे तद्वत्।

जैसे - आँख का विषय जो 'रूप' उसका सम्पर्क होते ही 'उस रूप को देख लो',  
इस प्रकार नियुक्त नहीं किया जाता, - वैसे ही यहाँ समझना चाहिए।

तस्मात् किम् अपि वक्तव्यं यद्-अनन्तरं ब्रह्म-जिज्ञासा उपदिश्यते इति।

इसलिए, जिसके होते हुए ब्रह्म को जानने की इच्छा का उपदेश किया जाता है, ऐसा  
कुछ तो बताना चाहिए।

उच्यते - नित्य-अनित्य-वस्तु-विवेकः इह-अमुत्र-अर्थ-भोग-विरागः

शम-दम-आदि-साधन-सम्पत् मुमुक्षुत्वं च।

बताते हैं - नित्य और अनित्य वस्तुओं का विवेक, इस लोक और परलोक के  
विषय-भोगों के प्रति वैराग्य, मन और इन्द्रियोंका संयम, मनका बाहर न जाना, सर्दी-  
गर्मी, सुख-दुःख आदिके चपेटोंको सहन कर लेना, मनको ईश्वरमें लगाकर रखने का  
अभ्यास, शास्त्र तथा गुरुके वचनोंमें पूरा विश्वास एवम् संसारके बन्धनोंसे छुटकारा  
पानेकी तीव्र इच्छा।

तेषु हि सत्सु प्राक् अपि धर्म-जिज्ञासाया ऊर्ध्वं च शक्यते ब्रह्म जिज्ञासितुं  
ज्ञातुं च न विपर्यये।

इन सब के होने पर, धार्मिक कर्मों को जानने के पहले भी और बाद में भी, ब्रह्म को  
जानने की इच्छा बन सकती है और ब्रह्म को जाना भी जा सकता है। परन्तु, इनके न  
रहने पर न ब्रह्म को अनुभव में जानने की, प्रत्यक्षतः पा लेने की इच्छा ही बन  
सकती है और न ब्रह्म को उस प्रकार जाना ही जा सकता है।

तस्मात् अथ शब्देन यथा-उक्त-साधन-सम्पत्ति-आनन्तर्यम् उपदिश्यते।

अतएव, 'अथ' शब्द से 'उपर्युक्त साधनसम्पत्ति के होने पर' ही बताया जा रहा है।

अतः शब्दो हेतु-अर्थः।

'अतः' शब्द 'क्यों', 'किसलिए' अर्थ में है।

यस्मात् वेद एव अग्निहोत्र-आदिनां श्रेयः-साधनानाम् अनित्य-फलतां दर्शयति - 'तद् यथा इह कर्म-चितः लोकः क्षीयते एवम् एव अमुत्र पुण्य-चितः लोकः क्षीयते' (छा० ८/१/६) इत्यादि।

क्योंकि वेद स्वयं ही मनुष्य का कल्याण साधनेवाले अग्निहोत्र इत्यादि वैदिक कर्मों के फलों का अनित्यत्व दर्शाते हैं; उदा०- 'जैसे इहलोक में कर्म से प्राप्त किये हुए फल क्षीण हो जाते हैं, वैसे ही परलोक में भी पुण्यकर्मों का फल क्षीण हो जाता है' (छान्दोग्योपनिषत् ८/१/६)।

तथा ब्रह्म-विज्ञानात् अपि परं पुरुषार्थं दर्शयति - 'ब्रह्मविद् आप्नोति परम्' इत्यादि: (तैत्ति० २/१)।

उसी प्रकार ब्रह्म के अनुभवात्मक ज्ञान से परमपुरुषार्थ की सिद्धि भी बतलाते हैं - उदा०- 'ब्रह्मवेत्ता को सर्वश्रेष्ठ वस्तु प्राप्त हो जाती है।' (तैत्तिरीयोपनिषत् २/१)।

तस्मात् यथा-उक्त-साधन-सम्पत्ति-अनन्तरं ब्रह्म-जिज्ञासा कर्तव्या।

अतएव, उपर्युक्त साधनसम्पत्ति के होते हुए ब्रह्म को अच्छी-पूरी तरह जान लेने की इच्छा करनी चाहिए।

ब्रह्मणः जिज्ञासा ब्रह्म-जिज्ञासा।

ब्रह्मजिज्ञासा का अर्थ हुआ - ब्रह्म जानने की इच्छा।

ब्रह्म च वक्ष्यमाण-लक्षणं 'जन्मादि अस्य यतः' इति।

और ब्रह्म तो वह कि जिसका लक्षण 'जिससे इस दुनिया की उत्पत्ति-स्थिति-लय होते हैं', इस प्रकार बतलाया जाएगा।

अत एव न ब्रह्म-शब्दस्य जाति-आदि-अर्थान्तरम् आशङ्कितव्यम्।

इसलिए 'ब्रह्म' शब्द से 'ब्राह्मण जाति' आदि दूसरे किसी अर्थ की आशङ्का नहीं करनी चाहिए।

ब्रह्मणः इति कर्मणि षष्ठी न शेषे, जिज्ञास्य-अपेक्षत्वात् जिज्ञासायाः, जिज्ञास्य-अन्तर-अनिर्देशात् च।

मूल 'ब्रह्मजिज्ञासा' शब्द 'षष्ठीतत्पुरुष' समास है - उस षष्ठी को 'कर्म' के अर्थ में लेना होगा, अर्थात् 'ब्रह्म को जानने की इच्छा', इस प्रकार ही अर्थ होगा - 'बचे हुए' के अर्थ में नहीं लेना होगा, अर्थात् 'ब्रह्म के बारे में जानने की इच्छा', इस प्रकार का अर्थ नहीं बनेगा; क्योंकि 'जानने की इच्छा' को 'जानने का विषय' चाहिए, और जानने के किसी दूसरे विषय का यहाँ निर्देश ही नहीं है।

ननु शेष-षष्ठी-परिग्रहे अपि ब्रह्मणो जिज्ञासा-कर्मत्वं न विरुध्यते, सम्बन्ध-सामान्यस्य विशेष-निष्ठत्वात्।

यहाँ ऐसी शंका उपस्थित होती है कि, 'ब्रह्म के बारे में जानने की इच्छा' अर्थ लेने पर भी 'ब्रह्म को जानने की इच्छा' से विरोध नहीं होता, क्योंकि सामान्य सम्बन्ध तो विशेष सम्बन्धों को लेकर ही बनता है।

एवम् अपि प्रत्यक्षं ब्रह्मणः कर्मत्वम् उत्सृज्य सामान्य-द्वारेण परोक्षं कर्मत्वं कल्पयतः व्यर्थः प्रयासः स्यात्।

इस प्रकार से भी प्रत्यक्ष ब्रह्म को जानने का (साधक का) भाव छोड़ कर ब्रह्म के बारे में जानते हुए ब्रह्म को भी जानने का (बौद्धिक पण्डितों का) अप्रत्यक्ष भाव मन में रखने में तो व्यर्थ प्रयास होगा।

न व्यर्थः, ब्रह्म-आश्रित-अशेष-विचार-प्रतिज्ञानार्थत्वात् इति चेत्।

यदि कहें कि वह प्रयास व्यर्थ नहीं है, क्योंकि ब्रह्म के बारे में सभी कुछ जान लेने के लिए विचार करने का निश्चय उसमें प्रकट होता है, तो?

न, प्रधान-परिग्रहे तत्-अपेक्षितानाम् अर्थाक्षिप्तत्वात्।

नहीं, यह दिशा ठीक नहीं है; क्योंकि मुख्य वस्तु पर मन लगाने से उसके लिए जो भी कुछ अपेक्षित हो, उनका ग्रहण अपने आप ही कर लिया जाता है।

ब्रह्म हि ज्ञानेन आप्तुम् इष्टतमत्वात् प्रधानम्।

और, ब्रह्म को ही ज्ञान के द्वारा पा लेना सबसे अधिक अभीप्सित होने के कारण वही तो मुख्य है।

तस्मिन् प्रधाने जिज्ञासा-कर्मणि परिगृहीते यैः जिज्ञासितैः विना ब्रह्म जिज्ञासितं न भवति तानि अर्थाक्षिप्तानि एव इति न पृथक् सूत्रयितव्यानि।

उसे ज्ञान के द्वारा प्राप्त कर लेने के रूप में ग्रहण कर लेने पर, जिनको जानने की इच्छा किए बिना ब्रह्म को ज्ञान के द्वारा पा लेने की इच्छा ही आगे नहीं बढ़ती, वह तो अपने आप ग्रहण कर ही लिए जाते हैं; इसलिए उनको सूत्र में अलग से बताने की आवश्यकता नहीं है।

यथा राजा असौ गच्छति इति उक्ते, सपरिवारस्य राज्ञः गमनम् उक्तं भवति, तद्वत्।

जैसे - 'यह राजा जा रहा है' कहने पर राजा जिनको साथ लेकर चलते हैं, उनको

साथ लेकर ही राजा का जाना बताया जाता है, वैसा ही इसे समझना है।

श्रुति-अनुगमात् च।

क्योंकि श्रुति का अनुसरण करने पर भी यही पता चलता है।

‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते’ ((तैत्ति० ३/१)) इत्याद्याः श्रुतयाः ‘तत् विजिज्ञासस्व तत् ब्रह्म’ इति प्रत्यक्षम् एव ब्रह्मणः जिज्ञासा-कर्मत्वं दर्शयन्ति।

‘जिससे ये सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं’ (तैत्तिरीयोपनिषत् ३/१) इत्यादि वेदवाक्य ‘उसे अनुभव में जान लेने की इच्छा कर, वही ब्रह्म है’ इस प्रकार प्रत्यक्ष ब्रह्म को ही जान लेना अभीप्सित है, यह बताते हैं।

तत् च कर्मणि षष्ठी-परिग्रहे सूत्रेण अनुगतं भवति।

और वह ‘कर्म के अर्थ में षष्ठी’ लेने पर सूत्र के अनुरूप बनता है।

तस्मात् ‘ब्रह्मणः’ इति कर्मणि षष्ठी।

अतएव, ‘ब्रह्म को’ इस प्रकार प्रत्यक्ष ब्रह्म को जानने के अर्थ में ही इस षष्ठी को ग्रहण करना है।

ज्ञातुम् इच्छा जिज्ञासा।

जानने की इच्छा को जिज्ञासा कहते हैं।

अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन् वाच्यायाः इच्छायाः कर्म, फल-विषयत्वात् इच्छायाः।

‘जिज्ञासा’ में ‘सन्’ प्रत्यय है, उससे जो ‘प्रत्यक्ष साक्षात्कार होने तक ज्ञान की इच्छा’ अर्थ बनता है, उसका ‘फल’रूप में अभीप्सित है ‘ब्रह्म’; क्योंकि ‘इच्छा’ तो ‘फल-विषयक’ ही होती है।

ज्ञानेन हि प्रमाणेन अवगन्तुम् इष्टं ब्रह्म।

और ब्रह्म का ही ज्ञान के द्वारा अर्थात् ज्ञान के सही साधनों द्वारा साक्षात्कार कर लेने की इच्छा होती है।

ब्रह्म-अवगतिः हि पुरुषार्थः, निःशेष-संसार-बीज-अविद्या-आदि-अनर्थ-निबर्हणात्।

ब्रह्म का साक्षात्कार ही वह वस्तु है, जिसे पा कर मनुष्य का जीवन परिपूर्ण होता है;

क्योंकि वही जन्म-मरण-रूप शृङ्खला के मूल कारण अविद्या आदि को सम्पूर्ण रूप से नष्ट करनेवाला होता है।

तस्मात् ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम्।

अतएव, ब्रह्म का साक्षात्कारपर्यन्त ज्ञान प्राप्त कर लेने की इच्छा होनी चाहिए।

तत् पुनः ब्रह्म प्रसिद्धम् अप्रसिद्धं वा स्यात्।

फिर प्रश्न होता है कि वह ब्रह्म जाना हुआ है कि न जाना हुआ है।

यदि प्रसिद्धं न जिज्ञासितव्यम्।

यदि जाना हुआ होगा तो फिर जानने की इच्छा नहीं होगी।

अथ अप्रसिद्धं न एव शक्यं जिज्ञासितुम् इति।

और अगर उसका पता ही नहीं होगा, तो फिर जानने की इच्छा ही नहीं बन सकेगी।

उच्यते - अस्ति तावत् ब्रह्म नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभावम् सर्वज्ञम् सर्व-शक्ति-समन्वितम्।

बताते हैं - नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव सर्वज्ञ सर्व-शक्तिमान ब्रह्म हैं अवश्य।

ब्रह्म-शब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्य-शुद्धत्व-आदयो अर्थाः प्रतीयन्ते, बृहतेः धातोः अर्थानुगमात्।

‘बृह’ धातु के अर्थ का अनुसरण करने से ही पता चल जाता है कि ब्रह्म शब्द कैसे बना, यह सोचने से उसमें नित्य शुद्धत्व आदि अर्थ प्रतीत होते हैं\*।

सर्वस्य आत्मत्वात् च ब्रह्म-अस्तित्व-प्रसिद्धिः।

सभी की आत्मा होने के कारण ब्रह्म का होना तो सब को पता ही है।

सर्वो हि आत्म-अस्तित्वं प्रत्येति, न ‘न अहम् अस्मि’ इति।

\* ‘बृह’का अर्थ ‘बढ़ना’ या ‘बढ़प्पन’ है। ब्रह्म किससे बढ़ा है, यह वेदों ने नहीं बताया और ब्रह्म शब्दके साथ ‘अनन्त’ शब्दका प्रयोग वेदों ने किया है - इससे ब्रह्मका बढ़प्पन निरपेक्ष है, असीम है, यही जानना होगा। ब्रह्ममें सर्वज्ञत्व आदि गुण यदि न हों और अन्तवान् होना आदि दोष हों तो ब्रह्मका बढ़प्पन असीम, निरपेक्ष नहीं हो सकता। इसलिए ‘बृह’ धातुका अर्थ असीम बढ़प्पन होता है, उसीसे ब्रह्मका सभी दोषोंसे रहित होना, अर्थात् नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त होना तथा सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्व आदि गुणोंसे युक्त होना जाना जाता है। इनमें नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त तो ब्रह्मका स्वरूप है तथा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् आदि उसकी पहिचान है।

सभी जनों को 'खुद' के होने का होश होता है, 'मैं नहीं हूँ', ऐसा होश तो नहीं होता।

यदि हि न आत्म-अस्तित्व-प्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको न अहम् अस्मि इति प्रतीयात्।

'खुद' का होना ही अगर पता नहीं होता तो सभी लोगों को 'मैं नहीं हूँ' ऐसा ही ज्ञान होता।

आत्मा च ब्रह्म।

और आत्मा ही तो ब्रह्म है।

यदि तर्हि लोके ब्रह्म-आत्मत्वेन प्रसिद्धम् अस्ति ततः ज्ञातम् एव इति अजिज्ञास्यत्वं पुनः आपन्नम्।

इस प्रकार यदि लोगों को आत्मा के रूप में ब्रह्म का पता है, तो फिर तो ब्रह्म जाना हुआ ही है; फिर तो उसे जानने की इच्छा ही असम्भव होने की आपत्ति आ पड़ी!

न, तत्-विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः।

यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि उसका विशिष्ट स्वरूप क्या है, इस बारे में परस्पर विरोधी ज्ञान हैं, इसलिए उसके वास्तविक स्वरूप को स्वयं अनुभव कर लेने की इच्छा बनी ही रहती है।

देहमात्रं चैतन्यविशिष्टम् आत्मा इति प्राकृता जना लोकायतिकाः च प्रतिपन्नाः।

असंस्कृत साधारण जन तथा 'लोकायतिक' सम्प्रदायवाले केवल शरीर को ही चैतन्य-गुणवाला और आत्मा जानते हैं।

इन्द्रियाणि एव चेतनानि आत्मा इति अपरे।

दूसरे कुछ लोग इन्द्रियाँ ही चेतन हैं और वे ही आत्मा हैं, इस प्रकार समझ बैठे हैं।

मन इति अन्ये।

और भी दूसरे लोग तो मन को ही आत्मा जानते हैं।

विज्ञानमात्रं क्षणिकम् इति एके।

कुछ लोगों की धारणा है कि अन्तःकरण में प्रतीत होनेवाला तथा प्रतिक्षण बदलनेवाला ज्ञान ही आत्मा है।



शून्यम् इति अपरे।

इनसे अलग और कुछ लोग तो आत्मा को 'शून्य' मानते हैं।

अस्ति देह-आदि-व्यतिरिक्तः संसारी कर्ता भोक्ता इति अपरे।

देह इत्यादि से अलग, जन्म-मरण परम्परा से गुजरनेवाला कर्ता-भोक्ता आत्मा है, ऐसा भी कुछ लोग समझते हैं।

भोक्ता एव केवलं न कर्ता इति एके।

कोई समझते हैं कि आत्मा केवल भोक्ता होता है, कर्ता नहीं होता।

अस्ति तत्-व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्व-शक्तिः इति केचित्।

तो कोई कहते हैं कि उस आत्मा से अलग एक सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान ईश्वर भी होता है।

आत्मा स भोक्तुः इति अपरे।

दूसरे कहते हैं कि वह ईश्वर भोक्ता का भी आत्मा होता है।

एवं बहवः विप्रतिपन्नाः युक्ति-वाक्य-तदाभास-समाश्रयाः सन्तः।

इस प्रकार बहुतसे लोग अपने-अपने तर्कों का, वेदान्तवाक्यों तथा उनके आभासों का आश्रय लेकर परस्पर विरुद्ध ज्ञानोंका पोषण करते हैं।

तत्र अविचार्य यत्-किञ्चित् प्रतिपद्यमानाः निःश्रेयसात् प्रतिहन्येत अनर्थं च इयात्।

इस परिस्थिति में बिना सोचे-विचारे कुछ भी जानकर रहनेवाले अन्तिम कल्याण से वञ्चित रह जाएँगे एवं अनर्थ को प्राप्त हो जाएँगे।

तस्मात् ब्रह्म-जिज्ञासा-उपन्यास-मुखेन वेदान्त-वाक्य-मीमांसा तत्-अविरोधि-तर्क-उपकरण निःश्रेयस-प्रयोजना प्रस्तूयते।

इसलिए, ब्रह्म-जिज्ञासा का प्रसङ्ग उपस्थित करते हुए, वेदान्त के वाक्यों का विश्लेषणात्मक अर्थनिर्णय, सुसङ्गत तर्कों को सहायक बनाकर, साधक को मोक्षप्राप्ति कराने का लक्ष्य सामने रखकर प्रस्तुत किया जा रहा है।

**शारीरक-मीमांसा का द्वितीय सूत्र**

ब्रह्म जिज्ञासितव्यम् इति उक्तम्।

ब्रह्म को अनुभव से जान लेने की बीच में न रुकनेवाली इच्छा होनी चाहिए(और उसे पूर्ण करनेके लिए मार्गदर्शन खोजना चाहिए) – यह कहा गया।

किंलक्षणं पुनः तद् ब्रह्म इति अतः आह भगवान् सूत्रकारः—

‘तो फिर वह उस ब्रह्म की पहिचान क्या है?’ – ऐसा प्रश्न उठता है, इसलिए भगवान् सूत्रकार कहते हैं –

### जन्म-आदि अस्य यतः॥२॥

जन्म = जन्म, आदि = पहिले जन्म होकर फिर स्थिति और प्रलय, अस्य = इस जगत् का, यतः = जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है।

जन्म उत्पत्तिः, आदिः अस्य इति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः।

‘जन्म’ का अर्थ है ‘पैदा होना’। ‘वह है पहला जिनमें’ इस प्रकार ‘जन्म-आदि’ यह शब्द ‘तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि’ समास है। अर्थात् ‘जन्म’ का अन्तर्भाव करते हुए ‘उसके बादवाले स्थिति और प्रलय भी’ उसके अर्थ में आते हैं।

जन्म-स्थिति-भङ्गं समासार्थः।

इस प्रकार ‘पहिले पैदा होना और फिर रहना और नष्ट होना’ यह इस समास का अर्थ हुआ।

जन्मनः च आदित्वं श्रुति-निर्देश-अपेक्षं वस्तु-वृत्त-अपेक्षं च।

इन तीनों में ‘पैदा होने’ को पहला बताना तो वेदों के निर्देश के अनुसार, तथा प्रत्यक्षतः जो होता है, उसके अनुसार है।

श्रुति-निर्देशः तावद् ‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते’ (तैत्ति० ३/१) इति अस्मिन् वाक्ये जन्म-स्थिति-प्रलयानां क्रम-दर्शनात्।

वेदों का निर्देश तो इस प्रकार हुआ कि तैत्तिरीय उपनिषत् के “जिससे ये भूत पैदा होते हैं, पैदा होने के बाद जिसके कारण जीते हैं, और अन्तसमय जिसमें विलीन हो जाते हैं, उसे अनुभवमें जाननेकी कोशिश कर, वही ब्रह्म है,” इस वाक्य में ‘पैदा होना, रहना तथा नष्ट होना’ इनका क्रम दिखाई पड़ता है।

वस्तु-वृत्तम्-अपि, जन्मना लब्धसत्ताकस्य धर्मिणः स्थिति-प्रलय-

सम्भवात्।

प्रत्यक्षतः जो होता है, उसके अनुसार भी यही है कि, पैदा होने से जिसे अपना अस्तित्व प्राप्त हो गया उस पदार्थ का ही रहना और नष्ट होना हो सकता है।

अस्य इति प्रत्यक्ष-आदि-सन्निधापितस्य धर्मिणः इदम्-आ निर्देशः।

जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से हमारे बिल्कुल निकट उपस्थित किया गया है, उस जगत् को 'यह' कहा गया है; 'अस्य' = 'इस जगत् का'।

षष्ठी जन्म-आदि-धर्म-सम्बन्धार्था।

'यह' से जो 'इसका' बना, वह 'पैदा होना, रहना तथा नष्ट होना' इन धर्मों से 'सम्बन्ध' दिखाने के लिए हुआ।

यत इति कारण-निर्देशः।

'यतः = जिससे' - यह 'कारण' बताना हुआ।

अस्य जगतः, नाम-रूपाभ्यां व्याकृतस्य अनेक-कर्तृ-भोक्तृ-संयुक्तस्य प्रतिनियत-देश-काल-निमित्त-क्रिया-फलाश्रयस्य मनसा अपि अचिन्त्य-रचना-रूपस्य जन्म-स्थिति-भङ्गं यतः, सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणात् भवति तत् बह्व इति वाक्यशेषः।

इस चली जानेवाली दुनियाके, जो नाम-रूपों के द्वारा ही प्रकटरूप धारण करती है, जिसमें अगणित 'मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ', ऐसी प्रतीतिवाले जुड़े हुए होते हैं, जिसमें देश, काल, निमित्त, क्रिया तथा फल, ये नियमों से बँधे हुए दीखते हैं, जिसकी रचना का आकलन मनकी कल्पना से भी नहीं हो पाता, ऐसी इस दुनियाके उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान 'कारण' है वही बह्व है, - इस प्रकार यह वाक्य पूरा होगा।

अन्येषाम् अपि भाव-विकाराणां त्रिषु एव अन्तर्भाव इति जन्म-स्थिति-नाशानाम् इह ग्रहणम्।

इस दुनिया में विद्यमान पदार्थों में अन्य सारे जो परिवर्तन होते रहते हैं, उनको सोचने पर भी हमारी प्रतीति में उत्पत्ति, स्थिति और विनाश ही रहते हैं, इसलिए इन तीनों का ही नाम लिया गया है।

यास्क-परिपठितानां तु ('जायते अस्ति' इत्यादीनाम्) ग्रहणे तेषां जगतः स्थिति-काले सम्भाव्यमानत्वात् मूलकारणात् उत्पत्ति-स्थिति-नाशाः जगतः

न गृहीताः स्युः इति आशङ्क्येत, तन्मा शङ्की इति या उत्पत्तिः ब्रह्मणः  
तत्रैव स्थितिः प्रलयः च ते एव गृह्यन्ते।

यास्कमुनि ने जो जन्म, रहना, बढ़ना, बदलना, क्षीण होना और मरना नाम से छः  
विकार गिनाये हैं, वे तो पूरी दुनिया के 'स्थिति'काल में ही सम्भव हैं, अतः उन्हें  
सोचने पर तो मूल कारण 'ब्रह्म'से समूची दुनिया की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश  
सोचना नहीं होगा, ऐसी शंका हो सकती है, वह न हो, इसलिए जो उत्पत्ति, स्थिति  
और विनाश ब्रह्म से होते हैं, उन्हें ही यहाँ सोचा जाता है।

न यथा-उक्त-विशेषणस्य जगतो यथा-उक्त-विशेषणम् ईश्वरं मुक्त्वा  
अन्यतः प्रधानात् अचेतनात् अणुभ्यो अभावात् संसारिणः वा उत्पत्त्यादि  
सम्भावयितुं शक्यम्।

ऊपर जिसकी विशेषताएँ बतायी गयी हैं, उस प्रकारके जगत्की उत्पत्ति आदि, उपर्युक्त  
विशेषणोंवाले ईश्वरके अलावा अन्य किसी कारणसे - अचेतन प्रधानसे, अणुओंसे,  
अभावसे, या किसी संसारी जीवसे - सम्भव बताया नहीं जा सकती।

न च स्वभावतः, विशिष्ट-देश-काल-निमित्तानाम् इह उपादानात्।

खास स्वभाववाले देश, काल तथा कार्यकारणभाव का इसमें समावेश होनेके कारण  
“अपने आप” भी इसकी उत्पत्ति आदि नहीं बतायी जा सकती।

एतत् एव अनुमानं संसारि-व्यतिरिक्त-ईश्वर-अस्तित्व-आदि-साधनं  
मन्यन्ते ईश्वर-कारणिनः।

ईश्वरको जगत्कारण माननेवाले अन्यमतावलम्बी, संसारी जीवसे भिन्न ईश्वरके अस्तित्व  
आदिको सिद्ध करनेके लिए इसी अनुमान की सहायता लेते हैं।

ननु इह-अपि तत् एव उपन्यस्तं जन्म-आदि-सूत्रे।

शंका - इस “जन्म-आदि ...” सूत्रमें भी उसी अनुमान का उल्लेख किया हुआ  
प्रतीत होता है?

न, वेदान्त-वाक्य-कुसुम-ग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम्।

उत्तर - नहीं; क्योंकि('सूत्र' शब्दका एक अर्थ 'धागा' भी होता है, तो उसके अनुसार  
आचार्य कहते हैं कि) सूत्रोंकी रचना तो वेदान्तवाक्योंको फूलोंके समान एकत्र  
पिरोनेके लिए है। (किसी स्वतन्त्र तर्कको उपस्थित करनेके लिए नहीं।)

वेदान्त-वाक्यानि हि सूत्रैः उदाहृत्य विचार्यन्ते।

क्योंकि सूत्रोंमें वेदान्तवाक्योंका उल्लेख कर उनका विचार किया गया है।

वाक्यार्थ-विचारणा-अध्यवसान-निर्वृत्ता हि ब्रह्म-अवगतिः न अनुमानादि-  
प्रमाणान्तर-निर्वृत्ता।

जब वेदान्तवाक्यों पर किया हुआ विचार दृढ निश्चयमें परिणत हो जाता है, तभी तो ब्रह्मको पूर्ण साक्षात्कारसे जानना होता है, न कि अनुमानादि अन्य किसी प्रमाणोंकी परिपूर्णता होने से।

सत्सु तु वेदान्त-वाक्येषु जगतः जन्म-आदि-कारणवादिषु तत्-अर्थ-  
ग्रहण-दाढ्याय अनुमानम् अपि वेदान्त-वाक्य-अविरोधि प्रमाणं भवत् न  
निवार्यते, श्रुत्या एव च सहायत्वेन तर्कस्य अभ्युपेतत्वात्।

ब्रह्मको जगतकी उत्पत्ति आदि का कारण बतानेवाले वेदान्तवाक्य हैं; उनके रहते हुए, उनके अर्थका ग्रहण दृढता से हो सके, इसलिए प्रयुक्त होने पर वेदान्तवाक्योंके अविरोधी अनुमानादि प्रमाण अमान्य नहीं किये जाते; क्योंकि श्रुति ने ही सहायकरूप से तर्क को मान्यता दी है।

तथा हि - “श्रोतव्यो मन्तव्यः” (बृह० २/४/५) इति श्रुतिः “पण्डितः  
मेधावी गन्धारान् एव उपसम्पद्येत एवम् एव इह आचार्यवान् पुरुषो वेद”  
(छान्दो० ६/१४/२) इति च पुरुष-बुद्धि-साहाय्यम् आत्मनः दर्शयति।

जैसे - “सुनना चाहिए, सोचना चाहिए” (बृह० २/४/५) यह श्रुति और उसी प्रकार “जैसे जानकार तथा बुद्धिमान मनुष्य गन्धारदेशको ही पहुँच जाता है, उसी प्रकार जिसे गुरु प्राप्त हो गये हैं, वह ब्रह्मको जान लेता है” (छान्दो० ६/१४/२), यह श्रुति भी मनुष्यकी बुद्धिको अपना सहायक बताती है।\*

न धर्म-जिज्ञासायाम् इव श्रुति-आदयः एव प्रमाणम् ब्रह्म-जिज्ञासायाम्।

धर्म अर्थात् शुभाशुभ कर्म को जाननेकी इच्छामें जैसे केवल श्रुति आदिही जाननेके साधन होते हैं, वैसा ब्रह्मको जाननेकी इच्छामें नहीं है।

\* छान्दोग्योपनिषत् में बताया कि - किसी मनुष्यके हाथों और आँखों को पट्टियोंसे बाँधकर चोरोंने उसे गन्धार देशसे लाकर वनमें छोड़ दिया। किसी राहगीरने उसकी पट्टियाँ खोलकर उसे गन्धार देश लौटनेका रास्ता बता दिया। वह अपनी जानकारी और बुद्धि की सहायतासे रास्तेको समझ-बूझकर ठीक गन्धार देश पहुँच ही गया। तो इसमें उसकी जानकारी और बुद्धि से युक्त होनेकी जो बात बतायी, उससे पूर्वानुभव और बुद्धि की सहायता स्वीकार की गयी है।

किन्तु श्रुति-आदयः अनुभव-आदयः च यथा-सम्भवम् इह प्रमाणम्  
अनुभव-अवसानत्वात् भूत-वस्तु-विषयत्वात् च ब्रह्म-ज्ञानस्य।

किन्तु, श्रुति आदि तथा यथासम्भव अनुभव आदि भी इसमें जाननेके साधन होते हैं, क्योंकि ब्रह्मज्ञान तो पहलेसे विद्यमान वस्तुके बारेमें होकर उसका पर्यवसान अनुभवमें ही होना होता है।

कर्तव्ये हि विषये न अनुभव-अपेक्षा अस्ति इति श्रुति-आदीनाम् एव  
प्रामाण्यम् स्यात् पुरुषाधीन-आत्मलाभत्वात् च कर्तव्यस्य।

कर्तव्य-विषयमें अनुभवकी अपेक्षा ही नहीं होती है, इसलिए श्रुति आदि की ही जाननेकी साधनता हो सकती है; एवम्, क्योंकि कर्मको अस्तित्व प्राप्त होना तो करनेवाले पर निर्भर होता है, इसलिए भी श्रुति आदि की ही जाननेकी साधनता हो सकती है।

कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा वा कर्तुम् शक्यम् लौकिकम् वैदिकम् च कर्म,  
यथा अश्वेन गच्छति, पद्भ्याम्, अन्यथा वा न वा गच्छति इति।

कर्म चाहे लौकिक हो या वैदिक, उसे करना, न करना या किसी दूसरे प्रकार से करना भी हो सकता है, जैसे - घोड़ेपर चढ़कर जाता है, पैदल या किसी अन्य उपायसे जाता है, या फिर नहीं भी जाता।

तथा “अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति”, “न अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति”, “उदिते  
जुहोति”, “अनुदिते जुहोति” इति विधि-प्रतिषेधाः च अत्र अर्थवन्तः स्युः,  
विकल्प-उत्सर्ग-अपवादाः च।

उसी प्रकार, “अतिरात्र नामक यज्ञमें ‘षोडशी’ नामवाले पात्रसे सोमरस ग्रहण करता है”, “अतिरात्र नामक यज्ञमें ‘षोडशी’ नामवाले पात्रसे सोमरस ग्रहण नहीं करता है”, “सूर्योदय होनेपर हवन करता है” “सूर्योदय होनेसे पहले ही हवन करता है”, इस प्रकार करने-न करनेके आदेश तथा दो में से कोई एक क्रिया करना, सामान्य नियम और अपवाद, इसमें सार्थक हो सकते हैं।

न तु वस्तु एवं न एवं अस्ति न अस्ति इति वा विकल्प्यते।

परन्तु, ‘वस्तु’ ऐसी है; ऐसी नहीं है; है; नहीं है - इस तरह की विकल्पना नहीं होती।

विकल्पनाः तु पुरुष-बुद्धि-अपेक्षा।

जो विकल्पना होती है वह तो मनुष्यकी बुद्धि के कारण होती है।

न वस्तु-याथात्म्य-विज्ञानं पुरुष-बुद्धि-अपेक्षम्।

‘वस्तु’के सही स्वरूपका अनुभवात्मक ज्ञान मनुष्य की बुद्धि पर निर्भर नहीं करता।

किं तर्हि वस्तु-तन्त्रम् एव तत्।

तो फिर कैसे? – वह तो वस्तुके निजी स्वरूपके अधीन(अनुरूप होता) है।

न हि स्थाणौ एकस्मिन् स्थाणुः वा पुरुषः अन्यः वा इति तत्त्वज्ञानं भवति।

एक ही खम्भेमें यह खम्भा है या मनुष्य है या और कुछ है – इस प्रकार का ज्ञान सही स्वरूपज्ञान नहीं होता।

तत्र पुरुषः अन्यः वा इति मिथ्या-ज्ञानम्।

वहाँ मनुष्य है या कुछ और है – यह तो गलत ज्ञान हुआ।

स्थाणुः एव इति तत्त्व-ज्ञानम्, वस्तु-तन्त्रत्वात्।

खम्भा ही है – यह सही स्वरूपका ज्ञान हुआ, क्योंकि वह ‘वस्तु’के अधीन(अनुरूप) है।

एवं भूत-वस्तु-विषयाणां प्रामाण्यं वस्तु-तन्त्रम्।

इस प्रकार, पहलेसे विद्यमान वस्तुओंके सही ज्ञानकी साधनता वस्तुके स्वरूपके अधीन होती है।

तत्र एवं सति ब्रह्म-ज्ञानम् अपि वस्तु-तन्त्रम् एव भूत-वस्तु-विषयत्वात्।

उस विषयमें यह नियम होनेसे, ब्रह्मज्ञानभी विद्यमान वस्तुके बारेमें होनेके कारण वस्तुस्वरूपके ही अधीन होता है।

ननु भूत-वस्तुत्वे ब्रह्मणः प्रमाणान्तर-विषयत्वम् एव इति वेदान्त-वाक्य-विचारणा आनर्थिका एव प्राप्ता।

शंका – ब्रह्म विद्यमान वस्तु होनेके कारण तो अन्य साधनों से जाननेकी वस्तु हो जाती है, फिर वेदान्तवाक्योंका विचार करना तो निरर्थकही हो गया।

न, इन्द्रिय-अविषयत्वेन सम्बन्ध-अग्रहणात्।

समाधान – नहीं; इन्द्रियोंका विषय न होनेके कारण उसका ‘जगत्का कारण होना’-रूप सम्बन्ध पकड़ाई में नहीं आता।

स्वभावतः विषय-विषयाणि इन्द्रियाणि न ब्रह्म-विषयाणि।

इन्द्रियाँ स्वभावसे विषयोंको विषय बनानेवाली होती हैं, न कि ब्रह्मको विषय बनानेवाली।

सति हि इन्द्रिय-विषयत्वे ब्रह्मणः इदं ब्रह्मणा सम्बद्धं कार्यम् इति गृह्येत।

ब्रह्म यदि इन्द्रियोंका विषय होता तो यह जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है, यह तथ्य पकड़ाई में आ जाता।

कार्य-मात्रम् एव तु गृह्यमाणं किं ब्रह्मणा सम्बद्धं किं अन्येन केनचित् वा सम्बद्धम् इति न शक्यं निश्चेतुम्।

केवल उत्पन्न हुआ जगत् ही अनुभवमें आता है, क्या वह ब्रह्मसे निकला है या किसी अन्यसे, इसका निश्चय नहीं किया जा सकता।

तस्मात् जन्मादि-सूत्रं न अनुमान-उपन्यासार्थं, किं तर्हि वेदान्त-वाक्य-प्रदर्शनार्थम्।

अतएव, “जन्मादि...” सूत्र अनुमानको उपस्थित करनेके लिए नहीं है; – तो फिर क्या है? सो उपनिषदोंका वाक्य दिखाने के लिए है।

किं पुनः तत् वेदान्त-वाक्यं यत् सूत्रेण इह लिलक्षयिषितम्।

फिर कौनसा है वह उपनिषदका वाक्य जिसे दिखानेकी इच्छा यहाँ की गयी है?

“भृगुः वै वारुणिः। वरुणं पितरम् उपससारा। अधीहि भगवः ब्रह्म इति।” इति उपक्रम्य आह – “यतो वै इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति। तत् विजिज्ञासस्वा। तत् ब्रह्म इति।” (तैत्ति० ३/१)। तस्य च निर्णय-वाक्यम् – “आनन्दात् हि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति इति।” (तैत्ति० ३/६)।

“भृगु वरुणका बेटा था। वह अपने पिता वरुणके पास गया। उसने कहा – भगवन्, मुझे ब्रह्म सिखाइए।” – इस प्रकार शुरुआत कर कहते हैं – “जिससे ये सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीते हैं, अन्तमें जिसमें ये लीन हो जाते हैं, उसे अनुभवसे जाननेकी इच्छा कर, वही ब्रह्म है।” (तैत्ति० ३/१) और फिर उसका निर्णय करनेवाला वाक्य है – “निश्चित है कि आनन्दसे ही ये सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्दसे जीते हैं, अन्तमें ये आनन्दमें लीन होते हैं।” (तैत्ति० ३/६)।

अन्यानि अपि एवं-जातीयकानि वाक्यानि नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-



स्वभाव-सर्वज्ञ-स्वरूप-कारण-विषयाणि उदाहर्तव्यानि।

दूसरे-दूसरे भी इसी प्रकारके वाक्य जो जगत्के कारणको अपरिवर्तनीय, शुद्ध, जगते हुए, बन्धनोंमें न पड़नेवाले - ऐसे स्वभाववाला और स्वरूपसे ही सब जाननेवाला बताते हैं, उनका यहाँ उल्लेख करना चाहिए। (उन्हें मनमें लाना चाहिए।)

### शारीरक-मीमांसाका तीसरा सूत्र

जगत्-कारणत्व-प्रदर्शनेन सर्वज्ञं ब्रह्म इति उपक्षिप्तं तत् एव द्रढयन् आह -  
ब्रह्म जगत्का कारण है, यह बतानेसे वह सर्वज्ञ है, यह सूचित किया गया; उसीको दृढ करनेके लिए कहते हैं -

#### शास्त्र-योनित्वात् ॥३॥

(ब्रह्म सर्वज्ञ है,) क्योंकि वह शास्त्रोंका उत्पत्ति-स्थान है॥३॥

महतः ऋग्वेद-आदेः शास्त्रस्य अनेक-विद्यास्थान-उपबृंहितस्य प्रदीपवत्  
सर्व-अर्थ-अवद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म।

अनेक प्रकारकी विद्याओंके स्रोतोंका साहाय्य जिन्हें प्राप्त है, जो प्रदीपके समान सभी अर्थोंको प्रकाशित करते हैं, जो सर्वज्ञ जैसे हैं, ऐसे ऋग्वेद आदि महान् शास्त्रोंकी उत्पत्तिका कारण ब्रह्म है।

न हि ईदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेद-आदि-लक्षणस्य सर्वज्ञ-गुण-अन्वितस्य  
सर्वज्ञात् अन्यतः सम्भवः अस्ति।

ऐसे - सर्वज्ञताके गुणसे युक्त ऋग्वेद-आदि लक्षणोंवाले शास्त्रकी उत्पत्ति सर्वज्ञ ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य किसीसे हो नहीं सकती।

यत्-यत्-विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात् पुरुष-विशेषात् सम्भवति - यथा  
व्याकरण-आदिः पाणिनि-आदेः - ज्ञेय-एक-देश-अर्थम् अपि, स ततः  
अपि अधिकतर-विज्ञानः इति प्रसिद्धं लोके; किम् उ वक्तव्यं अनेक-  
शाखा-भेद-भिन्नस्य देव-तिर्यक्-मनुष्य-वर्ण-आश्रम-आदि-प्रविभाग-  
हेतोः ऋग्वेद-आदि-आख्यस्य सर्व-ज्ञान-आकरस्य अप्रयत्नेन एव  
लीला-न्यायेन पुरुष-निःश्वासवत् यस्मात् महतः भूतात् योनेः सम्भवः -

“अस्य महतः भूतस्य निःश्वसितम् एतत् यत् ऋग्वेदः” (बृ० २/४/१०)  
इत्यादि श्रुतेः – तस्य महतः भूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्व-शक्तिमत्त्वं  
च इति।

जिसमें एकही विषयकी बात कही गयी हो, ऐसे शास्त्रमें उस विषयका ज्ञान कितनेभी  
विस्तारसे दिया गया हो, फिरभी वह शास्त्र जिस पुरुषसे उत्पन्न हुआ, उसका उस  
विषयका ज्ञान उस शास्त्रमें दिये ज्ञानसे अधिक होता है, ऐसी लोकप्रसिद्धि है।  
उदाहरणार्थ – व्याकरणशास्त्रमें दिये हुए शब्दसिद्धिके ज्ञानकी अपेक्षा उसके कर्ता  
पाणिनिका उस विषयका ज्ञान निश्चितही अधिक था। फिर, जिसमें कितनीही अनेक  
शाखाएँ हैं, जिसके कारण देवता, पशु और मनुष्योंमें वर्ण आश्रम आदि भेद बखाने  
गये हैं, जो ज्ञानकी खदान-सी हैं, ऐसे ऋग्वेदादि शास्त्रोंकी उत्पत्ति, “यह जो ऋग्वेद  
है, वह इस महान् पुरुष का निकलता हुआ श्वास है” (बृ० २/४/१०) इत्यादि  
श्रुतियोंके अनुसार प्रयत्नके बिना, लीलाके समान, मनुष्यसे श्वास निकलनेके समान,  
जिस महान् पुरुष से होती है, उस महान् पुरुषका अतुलनीय रूप से सर्वज्ञ और  
सर्वशक्तिमान् होना तो स्पष्ट ही है।

अथवा

अथवा – अर्थात् इस सूत्रका दूसराभी एक अर्थ है –

यथा-उक्तम् ऋग्वेद-आदि शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणम् अस्य ब्रह्मणः  
यथावत्-स्वरूप-अधिगमे।

ब्रह्म किसी दूसरे साधनसे जाना नहीं जा सकता, क्योंकि ऊपर जैसे बताये गये हैं, वे  
ऋग्वेद आदि शास्त्र ही इस ब्रह्मका स्वरूप सठीक जानने की योनि = कारण अर्थात्  
साधन है।

शास्त्रात् एव प्रमाणात् जगतः जन्म-आदि-कारणं ब्रह्म अधिगम्यते इति  
अभिप्रायः।

शास्त्ररूप साधन से ही ब्रह्मको जगत्के जन्म आदिके कारणरूपसे जाना जाता है,  
ऐसा इसका अभिप्राय है।

शास्त्रम् उदाहृतं पूर्वसूत्रे – “यतः वै इमानि भूतानि जाएन्ते” इत्यादि।

“जिससे ये सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं” इन शब्दों से शुरु होनेवाला शास्त्रका वह  
वाक्य पिछले सूत्रमें बताया था।

किम् अर्थं तर्हि इदं सूत्रं यावता पूर्वसूत्रे एव एवं-जातीयकं शास्त्रम् उदाहरता शास्त्र-योनित्वं ब्रह्मणः दर्शितम्।

फिर यह सूत्र किसलिए है – जबकि पिछले सूत्र में ही इस प्रकारका शास्त्र बताते हुए ब्रह्मका शास्त्ररूप साधनसे जाना जाना दिखा दिया था?

उच्यते – तत्र पूर्व-सूत्र-अक्षरेण स्पष्टं शास्त्रस्य अनुपादानात् जन्म-आदि केवलम् अनुमानम् उपन्यस्तम् इति आशङ्क्येत ताम् आशङ्कां निवर्तयितुम् इदं सूत्रं प्रवृत्ते शास्त्र-योनित्वात् इति।

बताते हैं – वहाँ पिछले सूत्रके शब्दोंसे स्पष्ट रूपमें शास्त्रका उल्लेख न किया जानेके कारण “जन्म आदि...” शब्दोंसे केवल अनुमानही बताया जा रहा है, ऐसी शङ्का हो सकती थी; उस सम्भाव्य शङ्काको दूर हटानेके लिए यह “शास्त्र-योनित्वात्” सूत्र प्रयुक्त हुआ है।

### शारीरक-मीमांसाका चौथा सूत्र

कथं पुनः ब्रह्मणः शास्त्र-प्रमाणकत्वम् उच्यते, यावता “आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यम् अ-तत्-अर्थानाम्” (जै०सू० १/२/१) इति क्रियापरत्वं शास्त्रस्य प्रदर्शितम्।

ब्रह्मको जाननेका साधन शास्त्र है, यह आप कैसे कहते हैं, जबकि “वेद तो क्रिया करानेवाले होनेके कारण उस प्रकारका अर्थ जिनसे नहीं निकलता वे वाक्य अर्थहीन होते हैं” (जै०सू० १/२/१), इस सूत्रद्वारा शास्त्रका क्रिया करानेके लिए होना बता दिया है?

अतः वेदान्तानाम् आनर्थक्यं, अ-क्रियार्थत्वात्।

इसलिए वेदान्तवाक्य क्रियाके लिए नहीं होनेके कारण, वे तो अनर्थक हैं।

कर्तृ-देवतादि-प्रकाशन-अर्थत्वेन वा क्रिया-विधि-शेषत्वं, उपासना-आदि-क्रियान्तर-विधान-अर्थत्वं वा।

या फिर कर्ता, देवता आदि चीजोंकी जानकारी दी है, ऐसा मानकर वे क्रियाविधि के अङ्गभूत हैं, ऐसा मानना होगा; या फिर उपासना आदि अन्य क्रियाओंका विधान करनेके लिए हैं, ऐसा सोचना होगा।

न हि परिनिष्ठित-वस्तु-प्रतिपादनं सम्भवति, प्रत्यक्ष-आदि-विषयत्वात्

परिनिष्ठित-वस्तुनः।

जिन वस्तुओंका स्वरूप पहलेसे ही निश्चित है, ऐसी वस्तुओंका प्रतिपादन वेदान्तवाक्योंमें सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसी वस्तुएँ तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे जानी जा सकती हैं।

तत्-प्रतिपादने च हेय-उपादेय-रहिते पुरुषार्थ-अभावात्।

और जब उन वस्तुओंके बारेमें त्याज्य या ग्राह्य ऐसा कुछभी न बताया हो तो उससे मनुष्यका कोई प्रयोजन ही नहीं बनता।

अत एव “सः अरोदीत्”(यजु० सं० १/५/१/३) इति एवम् आदीनाम् आनर्थक्यं मा भूत् इति, “विधिना तु एक-वाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः” (जै० सू० १/२/७) इति स्तावकेन अर्थवत्त्वम् उक्तम्।

और इसीलिए, “वह रोया” (यजु० सं० १/५/१/३) आदि वाक्य निरर्थक न हों एतदर्थ, “अर्थवादोंकी विधी से एकवाक्यता होनेके कारण वे विधिकी स्तुतिके लिए हैं, इस प्रकार उनकी प्रामाणिकता है”(जै०सू०१/२/७), इस सूत्रमें ऊपर जैसे वाक्योंकी सार्थकता “स्तुतिके लिए” इस रूपमें बतायी गयी है।\*

मन्त्राणां च “इषे त्वा”(यजु०सं०१/१/१) इति-आदीनां क्रिया-तत्-साधन-अभिधायित्वेन कर्म-समवायित्वम् उक्तम्।

इसी प्रकार, “शक्तिके लिए मैं तुझे”(यजु०सं०१/१/१) आदि मन्त्रोंमेंभी “तोड़ता हूँ” इस पदको जोड़कर ही अर्थ बनता है, और वह क्रिया तथा उनके साधनोंके बारेमें बताया होनेके कारण उनकाभी कर्मोंसे सम्बन्ध है, यह (जैमिनीने जै०सू०१/२/४०में) बता दिया है।

न क्वचित्-अपि वेद-वाक्यानां विधि-संस्पर्शम् अन्तरेण अर्थवत्ता दृष्टा उपपन्ना वा।

वेदवाक्योंका विधिसे - अर्थात् ऐसा करो' बतानेवाले वाक्योंसे - किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध हुए बिना उन्हे सार्थकता प्राप्त हुई, ऐसा न कहीं दिखायी पड़ता है,

\* 'स्तुति'में 'निन्दा'का भी समावेश माना जाता है। देवताओंके अटकानेसे "वह (अग्नि) रोया" और उन आँसुओंसे चाँदी बनी, इसलिए चाँदी अच्छी चीज़ नहीं है, तो उसका उपयोग यज्ञमें नहीं करना चाहिए। "चाँदीका उपयोग यज्ञमें मत करो", इस निषेधवाक्यसे सामञ्जस्य होनेके कारण ही "वह रोया" इस निन्दावाक्य की सार्थकता होती है, इस प्रकार अर्थवाद अर्थात् 'स्तुति-निन्दावाले' वाक्योंका क्रिया या निषेधसे सम्बन्ध जोड़करही सार्थकता मानी जाती है; स्वतन्त्रता से नहीं।

न वह युक्तियुक्तही है।

न च परिनिष्ठिते वस्तु-स्वरूपे विधिः सम्भवति क्रिया-विषयत्वात् विधेः।

जिसका स्वरूप पहलेसे निश्चित है उस वस्तुका विधिसे सम्बन्ध हो नहीं सकता, क्योंकि विधिका विषय तो क्रिया ही होता है।

तस्मात् कर्म-अपेक्षित-कर्तृ-स्वरूप-देवता-आदि-प्रकाशनेन क्रिया-विधि-शेषत्वं वेदान्तानाम्।

अतएव कर्ममें आवश्यक जो कर्ता, देवता आदि पदार्थ हैं, उनके स्वरूपकी जानकारी देनेवाले होनेसे वेदान्तवाक्य क्रियाविधि के अङ्गभूत हैं, ऐसाही मानना होगा।

अथ प्रकरणान्तर-भयात् न एतत् अभ्युपगम्यते, तथापि स्व-वाक्य-गत उपासनादि-कर्म-परत्वम्।

हाँ, प्रकरण दूसरा होनेके भयसे यदि वैसी प्रतीति न होती हो, तो फिर उसी प्रकरणमें बतायी हुई उपासना आदि क्रियाओंका विधान करनेमें उनका तात्पर्य, है ऐसा मानना होगा।

तस्मात् न ब्रह्मणः शास्त्र-योनित्वम् इति प्राप्ते उच्यते -

इसलिए ब्रह्मको जाननेका साधन शास्त्र नहीं है, ऐसा मत सामने आनेपर सूत्रकार कहते हैं -

### तत् तु समन्वयात्॥४॥

परन्तु, शास्त्रके हर वाक्यका क्या स्थान है, यह देखनेसे उन सभीका अन्तिम तात्पर्य ब्रह्मका ज्ञान कराने में है, ऐसी दृष्टि हो जाती है, तब हमने जो कहा कि शास्त्रही ब्रह्मको जाननेका एकमात्र साधन है, वह समझमें आवेगा।

तु शब्दः पूर्व-पक्ष-व्यावृत्ति-अर्थः।

सूत्रका “तु(परन्तु)” शब्द पूर्व-पक्षका निराकरण करनेके लिए है।

तत् ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्तिः जगत्-उत्पत्ति-स्थिति-लय-कारणं वेदान्त-शास्त्रात् एव अवगम्यते।

सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् तथा जगत्की उत्पत्ति-स्थिति-लयका कारण जो ब्रह्म है, वह वेदान्त-शास्त्रके द्वाराही जाना-पाया जाता है।

कथम्, समन्वयात्।

कैसे? तो उत्तरमें कहना होगा कि, शास्त्रके हर वाक्यका क्या स्थान है, यह देखनेसे उन सभीका अन्तिम तात्पर्य ब्रह्मका ज्ञान कराने में है, ऐसी दृष्टि हो जाती है, उससे।

सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येण एतस्य अर्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि।

सभी वेदान्तों में – उपनिषदों में – जितने वाक्य हैं, वे सारे अन्तिम तात्पर्यके रूपमें ‘जगत्-कारण ब्रह्म’, इस अर्थको ही बतानेवाले होकर यथास्थान भलीभाँति सम्बद्ध – जुड़े हुए हैं।

“सत् एव सौम्य इदम् अग्रे आसीत् एकम् एव अद्वितीयम्” (छा०६/२/१);  
 “आत्मा वै इदम् एक एव अग्रे आसीत् (ऐत० २/१/१/१); “तत् एतत् ब्रह्म अपूर्वम् अनपरम् अनन्तरम् अबाह्यम् अयम् आत्मा ब्रह्म सर्वानुभूः” (बृह० २/५/१९); “ब्रह्म एव इदम् अमृतं पुरस्तात् (मुण्ड० २/२/११) – इति आदीनि।

“हे प्रियदर्शन, यह पहिले केवल सत् ही था; वह एकही अद्वितीय था” (छा०६/२/१);  
 “यह पहिले एक आत्मा ही था” (ऐत० २/१/१/१); “जिसके पहिले कोई कारण नहीं था, जिसके बादमें कोई कार्य नहीं होता, जिसके भीतर या बाहर कुछभी नहीं, वही यह ब्रह्म है, यह आत्मा ही सबको अनुभवनेवाला ब्रह्म है” (बृह० २/५/१९); जो सामने है, वह अमृत ब्रह्म ही है” (मुण्ड० २/२/११) इत्यादि वाक्य देखे जासकते हैं।

न च तत्-गतानां पदानां ब्रह्म-स्वरूप-विषये निश्चिते समन्वये अवगम्यमाने अर्थान्तर-कल्पना युक्ता, श्रुत-हानि-अश्रुत-कल्पना-प्रसङ्गात्।

उन वाक्योंके अन्दर जो पद – शब्द हैं, उनका उन वाक्योंमें क्या स्थान है, यह देखनेसे, उन सभीका अन्तिम तात्पर्य ब्रह्मका स्वरूप निश्चित रूपसे जता देना ही है, यह जानते हुए दूसरे किसी अर्थकी वहाँ कल्पना करना उचित नहीं है, क्योंकि उससे वेदोंके मूल अर्थकी हानि और मूल शब्दोंसे अलग अर्थकी कल्पना करनेके दोष आ जाएँगे।

न च तेषां कर्तृ-स्वरूप-प्रतिपादन-परता अवसीयते “तत् केन कं पश्येत्” इति-आदि क्रिया-कारक-फल-निराकरण-श्रुतेः।

वे वाक्य कर्ताके स्वरूपकी जानकारी देते हैं, यह अर्थ अन्त तक टिक नहीं सकता, क्योंकि “वह किससे किसे देखेगा” (बृ०२/४/१४) इत्यादि वेदवाक्योंमें क्रिया, कर्ता

कर्म इत्यादि साधनों तथा फलोंका निराकरण किया गया है।

न च परिनिष्ठित-वस्तु-स्वरूपत्वे अपि प्रत्यक्ष-आदि-विषयत्वं ब्रह्मणः।

पहले से ही निश्चित स्वरूपवाला होने परभी ब्रह्म प्रत्यक्ष-आदि प्रमाणोंसे जाना नहीं जा सकता।

“तत् त्वम् असि” (छा०६/८/७) इति ब्रह्म-आत्म-भावस्य शास्त्रम्-  
अन्तरेण अन्-अवगम्यमानत्वात्।

“वही तू है”(छा०६/८/७) इस प्रकार ब्रह्मही सभीकी असलियत है, यह सत्य शास्त्रके अलावा अन्य किसी उपायसे नहीं जाना जा सकता है।

यत् तु हेय-उपादेय-रहितत्वात् उपदेश-आनर्थक्यम् इति।

न एष दोषः, हेय-उपादेय-शून्य-ब्रह्म-आत्मता-अवगमात् एव सर्व-  
क्लेश-प्रहाणात् पुरुषार्थ-सिद्धेः।

जो ब्रह्म छोड़नेलायक भी नहीं और लेनेलायक भी नहीं, उसके बारेमें उपदेश देना निरर्थक है, यह जो दोष पहले बताया था, वह कोई दोषही नहीं है, क्योंकि जो छोड़नेलायक भी नहीं और लेनेलायक भी नहीं, वह ब्रह्मही हमारी आत्मा - हमारा निजी स्वरूप है, इसे अनुभवनेसेही सभी क्लेशोंका नाश होनेसे - जीवनमें जो हासिल करना है, वह हासिल हो जाता है।

देवता-आदि-प्रतिपादनस्य तु स्व-वाक्य-गत-उपासनार्थत्वे अपि न  
कश्चित् विरोधः।

ऐसे तो कुछ प्रकरणोंमें देवता आदिका जो प्रतिपादन किया हुआ है वह उस-उस प्रकरणमें बतायी हुई उपासनाओंके लिए है, ऐसा माननेमें तो कोई विरोध नहीं आता।

न तु तथा ब्रह्मणः उपासना-विधि-शेषत्वं सम्भवति, एकत्वे हेय-उपादेय-  
शून्यतया क्रिया-कारक-आदि द्वैत-विज्ञान-उपमर्द-उपपत्तेः।

परन्तु उससे ब्रह्मभी उपासना-विधिका अङ्ग है, ऐसा तो नहीं हो जाता; क्योंकि “सब कुछ ब्रह्मही है”, इस प्रकार एकत्वका ज्ञान होने पर छोड़ने या लेने लायक कुछभी न रह जानेसे - क्रिया और उसके साधनरूप जो भेदका अनुभव होता है, उसका उखड़ जाना ही युक्तिसङ्गत है।

न हि एकत्व-विज्ञानेन उन्मथितस्य द्वैत-विज्ञानस्य पुनः सम्भवः अस्ति,  
येन उपासना-विधि-शेषत्वं ब्रह्मणः प्रतिपाद्येता।

एकत्वका अनुभव होनेसे द्वैतका जो अनुभव उखड़ जाता है, उसका फिरसे वापिस आना सम्भवही नहीं है – जिस अनुभव के आधार पर ब्रह्म उपासना-विधिका अङ्ग है, यह बताया जा सके।

यदि अपि अन्यत्र वेद-वाक्यानां विधि-संस्पर्शम्-अन्तरेण प्रमाणत्वं न दृष्टं, तथा अपि आत्म-विज्ञानस्य फल-पर्यन्तत्वात् न तत्-विषयस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं शक्यं प्रत्याख्यातुम्।

यद्यपि दूसरी जगहोंमें विधि-वाक्योंसे किसी प्रकार का सम्बन्ध आये बिना वेदवाक्योंका ज्ञान (जानकारी)का साधन होना नहीं देखा जाता, तोभी आत्मानुभवरूप जो ज्ञान है, वह फलमें पर्यवसित होनेवाला होनेके कारण, वह बतानेवाला शास्त्र ज्ञानका सही साधन है, यह नकारा नहीं जा सकता।

न च अनुमानगम्यं शास्त्र-प्रामाण्यं, येन अन्यत्र दृष्टं निदर्शनम् अपेक्षेत।

शास्त्र ज्ञानका सही साधन है, यह कोई अनुमानसे जाननेकी बात नहीं है, जिससे कि दूसरी जगह देखे किसी उदाहरणकी वहाँ जरूरत पड़ जाए।

तस्मात् सिद्धं ब्रह्मणः शास्त्र-प्रमाणकत्वम्।

इस प्रकार शास्त्र ही ब्रह्मको जाननेका साधन है, यह सिद्ध होता है।

अत्र अपरे प्रति-अवतिष्ठन्ते – यद्यपि शास्त्र-प्रमाणकं ब्रह्म तथापि प्रतिपत्ति-विधि-विषयतया एव शास्त्रेण ब्रह्म समर्प्यते।

यहाँ दूसरे कुछ लोग प्रतिवादी बनकर कहते हैं कि – यद्यपि ब्रह्मको जाननेका साधन शास्त्र है, तथापि उस ब्रह्मको ‘जानो’ इस विधिका विषय बनाकरही शास्त्रद्वारा ब्रह्मको बताया जाता है।

यथा यूप-आहवनीय-आदीनि अलौकिकानि अपि विधि-शेषतया शास्त्रेण समर्प्यन्ते तत्-वत्।

जिसप्रकार, लौकिक साधनोंसे जिनका ज्ञान नहीं हो सकता, उन यूप, आहवनीय इत्यादि पदार्थोंका विधिके अङ्गभूत रूपमें शास्त्र प्रतिपादन करता है, उसी प्रकार इस विषयमें भी समझना है।

कुतः एतत्?

किस कारणसे ऐसा कहा जा रहा है?

प्रवृत्ति-निवृत्ति-प्रयोजनत्वात् शास्त्रस्य।



क्योंकि शास्त्रका कामही 'ऐसा करो' वा 'ऐसा न करो' बतानेके लिए होता है।

तथा हि शास्त्र-तात्पर्य-विदः आहुः - "दृष्टो हि तस्यार्थः कर्म-  
अवबोधनम्" (जै०सू० १/१/१ शाबरभाष्य) इति।

शास्त्रका तात्पर्य जाननेवालोंने कहा है - "कर्मका बोध कराना ही तो वेदोंका स्पष्ट  
तात्पर्य है।" (जै०सू० १/१/१ का शाबरभाष्य)

"चोदना इति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम्।" (जै०सू० १/१/२ शाबरभाष्य)"  
"तस्य ज्ञानम् उपदेशः।" (जै०सू० १/१/५) "तत्-भूतानां क्रिया-अर्थेन  
सामान्यायः।" (जै०सू० १/१/२५) "आम्नायस्य क्रिया-अर्थत्वात् आनर्थक्यम्  
अतत्-अर्थानाम्।" (जै०सू० १/२/१) इति च।

औरभी कहा है - "क्रियामें प्रवृत्त करानेवाले वाक्यको ही 'वेदवाक्य' कहते  
हैं।" (जै०सू० १/१/२ का शाबरभाष्य) "उस धर्मकी जानकारी देनेवाला जो वेदवाक्य है,  
वही 'उपदेश' कहलाता है।" (जै०सू० १/१/५) "किसी वाक्यमें जो शब्द हों उनका  
क्रियावाचक शब्दसे सम्बन्ध जोड़ना चाहिए।" (जै०सू० १/१/२५) "क्रिया कराना ही  
वेदवाक्योंका उद्देश्य होनेके कारण जिन वाक्योंसे उस तरहका अर्थ न निकलता हो, वे  
निरर्थक हैं।" (जै०सू० १/२/१)

अतः पुरुषं क्वचित्-विषय-विशेषे प्रवर्तयत् कुतश्चित् विषय-विशेषात्  
निवर्तयत् च अर्थवत् शास्त्रम्।

इसलिए, किसी विषय-विशेषकी ओर प्रवृत्त कराता हुआ और किसी विषय-विशेषसे  
दूर हटाता हुआही शास्त्र सार्थक होता है।

तत्-शेषतया च अन्यत् उपयुक्तम्।

और इन वाक्योंके अङ्गभूत होकर ही अन्य शास्त्रवाक्य सार्थक होते हैं।

तत्-सामान्यात् वेदान्तानाम् अपि तथा एव अर्थवत्त्वं स्यात्।

वेदान्तवाक्यभी उसी प्रकारके होनेके कारण उनकी सार्थकता भी उसी तरह होगी।

सति च विधिपरत्वे यथा स्वर्ग-आदि-कामस्य अग्निहोत्र-आदि साधनं  
विधीयते एवम् अमृतत्व-कामस्य ब्रह्म-ज्ञानं विधीयते इति युक्तम्।

क्योंकि वेदान्तवाक्य 'ऐसा करो' बतानेवाले हैं, अतएव जैसे स्वर्ग आदिकी  
कामनावाले को अग्निहोत्र आदि साधन करने को कहा जाता है उसी प्रकार मोक्षकी  
कामनावाले को ब्रह्मको जानने के लिए कहा जाता है, यही समीचीन है।

ननु इह जिज्ञास्य-वैलक्षण्यम् उक्तम् - कर्मकाण्डे भव्यः धर्मः जिज्ञास्यः,  
इह तु भूतं नित्य-निर्वृत्तं ब्रह्म जिज्ञास्यम् इति।

यदि ऐसा कहो कि वेदान्तमें जिज्ञासित वस्तु कर्मकाण्डकी जिज्ञासित वस्तुसे भिन्न प्रकारकी है - कर्मकाण्डमें जाननेकी वस्तु है बादमें घटित होनेवाला 'धर्म', जबकि वेदान्तमें जाननेकी वस्तु है वह ब्रह्म जोकि पहलेसे है, नित्यसिद्ध है।

तत्र धर्म-ज्ञान-फलात् अनुष्ठान-अपेक्षात् विलक्षणं ब्रह्म-ज्ञान-फलं भवितुम् अर्हति।

तथा धर्म-ज्ञानका फल कर्मके अनुष्ठानपर निर्भर होनेके कारण ब्रह्मज्ञानका फल दूसरे प्रकारका होगा।

न अर्हति एवं भवितुम्।

तो ऐसा होना सम्भव नहीं है।

कार्य-विधि-प्रयुक्तस्य एव ब्रह्मणः प्रतिपाद्यमानत्वात्।

'कुछ करनेको कहा जाना' इस रूपमें ही ब्रह्मके बारेमें बताया गया है।

“आत्मा वै अरे द्रष्टव्यः” (बृह०२/४/५) इति।

“निश्चयही आत्माको 'देखना' चाहिए” (बृह०२/४/५) - ऐसा कहा है।

“यः आत्मा अपहतपाप्मा सः अन्वेष्टव्यः सः विजिज्ञासितव्यः” (छा०८/७/१) “आत्मा इति एव उपासीत” (बृ०१/४/७) आत्मानम् एव लोकम् उपासीत” (बृ०१/४/१५) “ब्रह्म वेद ब्रह्म एव भवति” (मुण्ड०३/२/९) इत्यादि विधानेषु सत्सु “को असौ आत्मा किं तत् ब्रह्म” इति आकाङ्क्षायां तत्-स्वरूप-समर्पणेन सर्वे वेदान्ताः उपयुक्ताः - 'नित्यः सर्वज्ञः सर्वगतः नित्यतृप्तः नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभावः विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म' इति एवम् आदयः।

“जो पापसे मुक्त है, ऐसे उस आत्माको 'ढूँढना' चाहिए, उसे अनुभवसे 'जानने'की इच्छा करनी चाहिए” (छा०८/७/१) “वह आत्मा है, इसीप्रकार ब्रह्मकी 'उपासना करनी' चाहिए” (बृ०१/४/७) “आत्माही गन्तव्य-प्राप्तव्य है, इस प्रकार 'उपासना करनी' चाहिए” (बृ०१/४/१५) “जो ब्रह्मको 'जानता' है वह ब्रह्मही हो जाता है” (मुण्ड०३/२/९) इस प्रकार कुछ 'करने'के उपदेश होने पर, उन उपदेशोंमें यह जाननेकी आवश्यकता होती है कि यह आत्मा क्या है? ब्रह्म क्या है? तब सारे

वेदान्तवाक्य उस आत्मा या ब्रह्मका स्वरूप बतानेसे ही सार्थक हो जाते हैं – जैसे, 'नित्य है, सर्वज्ञ है, सर्वव्यापी है, नित्यतृप्त है, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव है' इत्यादि।

तत्-उपासनात् च शास्त्र-दृष्टः अदृष्टः मोक्षः फलं भविष्यति इति।

और उसकी उपासनासे शास्त्रमें बताया हुआ 'मोक्ष'फल मिल जाता है, जो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे नहीं जाना जाता।

कर्तव्य-विधि-अन्-अनुप्रवेशे तु वस्तु-मात्र-कथने हान-उपादान-असम्भवात्, "सप्तद्वीपा वसुमती" "राजा असौ गच्छति" इत्यादि वाक्यवत् वेदान्त-वाक्यानाम् आनर्थक्यम् एव स्यात्।

कुछ करनेका उपदेश यदि उसके अन्दर न हो तो केवल वस्तुके बारेमें बतानेसे क्या छोड़ना या लेना चाहिए, इसका बोध न होनेसे "पृथ्वी पर सात द्वीप हैं" "यह राजा जा रहा है" आदि वाक्योंकी भाँति वेदान्तवाक्योंकी अनर्थकता ही होगी।

ननु वस्तुमात्र-कथने अपि "रज्जुः इयं नायं सर्पः" इत्यादौ भ्रान्ति-जनित-भीति-निवर्तनेन अर्थवत्त्वं दृष्टम्, तथा इह अपि असंसारि-आत्म-वस्तु-कथनेन संसारित्व-भ्रान्ति-निवर्तनेन अर्थवत्त्वं स्यात्।

यदि ऐसा कहो कि केवल वस्तुका स्वरूप बतानेवाले वाक्यों में भी "यह रस्सी है, साँप नहीं है" जैसे वाक्योंसे भ्रान्तिके कारण उत्पन्न होनेवाला भय दूर करते हुए सार्थकता होती है, वैसेही आत्माका असंसारी स्वरूप बतानेवाले वाक्योंसे आत्माके संसारी होनेकी भ्रान्ति दूर होकर वाक्यकी सार्थकता होतीही है।

स्यात् एतत् एवं यदि रज्जु-स्वरूप-श्रवणे इव सर्प-भ्रान्तिः संसारित्व-भ्रान्तिः ब्रह्म-स्वरूप-श्रवण-मात्रेण निवर्तेता।

तो कहना होगा कि यदि रस्सी का स्वरूप सुनते ही जैसे सर्पभ्रान्ति चली जाती है, वैसे ही ब्रह्मके स्वरूपका श्रवण करनेमात्रसे संसारित्वकी भ्रान्ति चली जाती तो वैया हो सकता था ।

न तु निवर्तते, श्रुत-ब्रह्मणः अपि यथापूर्वं सुख-दुःख-आदि-संसारि-धर्म-दर्शनात्, "श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः"(बृ० २/४/५) इति च श्रवण-उत्तर-कालयोः मनन-निदिध्यासनयोः विधि-दर्शनात्।

परन्तु, जाती तो नहीं है, क्योंकि जिसने ब्रह्मका स्वरूप सुना है उसकेभी जीवनमें सुख-दुःख-आदि सांसारिकता के धर्म देखे जाते हैं और क्योंकि "सुनना चाहिए,

सोचना चाहिए, ध्यान करना चाहिए'(बृ०२/४/५), इस वाक्यमें सुननेके बाद सोचने और ध्यान 'करने' के लिए कहा गया है।

तस्मात् प्रतिपत्ति-विधि-विषयतया एव शास्त्र-प्रमाणकं ब्रह्म  
अभ्युपगन्तव्यम् इति।

इसलिए 'जानना'रूप क्रियाके उपदेशका विषय इस रूपमें ही शास्त्रको ब्रह्मके जाननेका साधन समझना होगा - यही निष्कर्ष निकलता है।

अत्र अभिधीयते।

अब इस समूचे पूर्वपक्षका उत्तर दिया जाता है।

ना।

पूर्वपक्षका कहना सही नहीं है।

कर्म-ब्रह्म-विद्या-फलयोः वैलक्षण्यात्।

क्योंकि, कर्म और ब्रह्मविद्या के फल बिलकुलही भिन्न प्रकारके हैं।

शारीरं वाचिकं मानसं च कर्म श्रुति-स्मृति-सिद्धं धर्म-आख्यं यत्-विषया  
जिज्ञासा "अथ अतः धर्म-जिज्ञासा"(जै०सू०१/१/१) इति सूत्रिता।

शारीरिक, वाचिक और मानसिक जो कर्म वेदोंने बताये हैं, वे 'धर्म' कहलाते हैं और इन्हींके बारेमें जाननेकी इच्छा "अब इसलिए धर्मकी जिज्ञासा विचारमें ली जा रही है"(जै०सू०१/१/१), इस सूत्रमें बतायी गयी है।

अधर्मः अपि हिंसा आदिः प्रतिषेध-चोदना-लक्षणत्वात् जिज्ञास्यः  
परिहाराय।

उसीके साथ हिंसा आदि जो अधर्म हैं, उनके बारेमें 'नहीं करना चाहिए', इस तरहके उपदेशवाक्य वेदोंमें होनेके कारण उन्हें टालनेके लिए उन्हें भी सोचना जरूरी है।

तयोः चोदना-लक्षणयोः अर्थ-अनर्थयोः धर्म-अधर्मयोः फले प्रत्यक्षे  
सुख-दुःखे शरीर-वाक्-मनोभिः एव उपभुज्यमाने विषय-इन्द्रिय-  
संयोग-जन्ये ब्रह्मा आदिषु स्थावरान्तेषु प्रसिद्धे।

इस प्रकार वेदोंमें जिनका उपदेश है, उन अच्छे और बुरे धर्म और अधर्मके फल - सुख और दुःख, शरीर, वाणी और मनद्वाराही उपभोग किए जानेवाले, इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले, ब्रह्मासे लेकर पेड़-पौधोंतक में देखे जाते हैं।

मनुष्यत्वात् आरभ्य ब्रह्म-अन्तेषु देहवत्सु सुख-तारतम्यम् अनुश्रूयते।

मनुष्यसे लेकर ब्रह्मातक सभी देहधारियोंको कम-अधिक सुख होना, अनुभवको देखते हुए, वेदोंने बताया है।

ततः च तत्-हेतोः धर्मस्य तारतम्यं गम्यते।

उससे, उसका कारण जो धर्म है, उसकी कम-अधिकता जानी जाती है।

धर्म-तारतम्यात् अधिकारि-तारतम्यम्।

धर्मकी कम-अधिकतासे, धर्म का आचरण करनेवालोंके सामर्थ्यकी कम-अधिकताका पता चलता है।

प्रसिद्धं च अर्थित्व-सामर्थ्य-आदि-कृतम् अधिकारि-तारतम्यम्।

फलोंकी इच्छा, कर्म करनेकी सामर्थ्य आदि के कारण धर्म का आचरण करनेवालोंमें कम-अधिकता होती है, यह तो वैसे भी सभी जानते हैं।

तथा च यागादि-अनुष्ठायिनाम् एव विद्या-समाधि-विशेषात् उत्तरेण पथा गमनं, केवलैः इष्ट-आपूर्त-दत्त-साधनैः धूम-आदि-क्रमेण दक्षिणेन पथा गमनं तत्र अपि सुख-तारतम्यं तत्-साधन-तारतम्यं च शास्त्रात् - “यावत् सम्पातम् उषित्वा” (छा०५/१०/५) इति - अस्मात् गम्यते।

औरभी, शास्त्रोंसे - “कर्मका क्षय होनेतक रहकर” (छा०५/२/५) इस वेदवाक्यसे - जाना जाना जाता है कि यज्ञ आदि करनेवालोंमें ही विद्या तथा एकाग्रता की विशेषता के कारण उत्तरी मार्गसे जाना होता है और केवल वेदों और स्मृतियों द्वारा सिखाये कर्म करनेवालोंका दक्षिणी मार्गसे जाना होता है और वहाँभी सुखकी कम-अधिकता और साधनोंकी कम-अधिकता होती है।

तथा मनुष्य-आदिषु नारक-स्थावरान्तेषु सुख-लवः चोदना-लक्षण-धर्म-साध्य एव इति गम्यते तारतम्येन वर्तमानः।

उसी प्रकार मनुष्यसे लेकर नरकमें रहनेवाले और पेड़पौधे बनकर जीनेवालोंतक में सुखका कण शास्त्रोंद्वारा बताये धर्मसे ही साधित हुआ, है ऐसा समझा जाता है और उसमें कम-अधिकता तो होती ही है।

तथा ऊर्ध्व-गतेषु अधः-गतेषु च देहवत्सु दुःख-तारतम्य-दर्शनात् तत्-हेतोः अधर्मस्य प्रतिषेध-चोदना-लक्षणस्य तत्-अनुष्ठायिनां च तारतम्यं गम्यते।

इसी प्रकार मनुष्यसे उच्च और निम्न लोकोंमें रहनेवाले देहधारियोंमें दुःखकी कम-अधिकता देखी जानेसे, उसका कारण जो अधर्म, जोकि वेदोंके “मत करो”रूप उपदेशोंसे बताया जाता है, उसकी तथा उसे करनेवालोंके व्यक्तित्वकी कम-अधिकता जानी जाती है।

एवम् अविद्या-आदि-दोषवतां धर्म-अधर्म-तारतम्य-निमित्तं शरीर-उपादान-पूर्वकं सुख-दुःख-तारतम्यम् अनित्यं संसार-रूपं श्रुति-स्मृति-न्याय-प्रसिद्धम्।

इस प्रकार जिनमें गलत ज्ञान आदि दोष हैं, उनके धर्म-अधर्मकी कम-अधिकताके कारण शरीर धारण करते हुए सुख-दुःखोंकी कम-अधिकता, जोकि अनित्य संसार का रूप है, श्रुति-स्मृति-न्याय-शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है।

तथा च श्रुतिः - “न ह वै सशरीरस्य सतः प्रिय-अप्रिययोः अपहतिः अस्ति”(छां० ८/१२/१) इति यथा-वर्णितं संसार-रूपम् अनुवदति।

इसी उपरिवर्णित संसार के बारेमें वेदोंने अपनी भाषामें कहा है - “शरीरके रहते हुए सुख-दुःखोंसे छुटकारा नहीं होता”(छां० ८/१२/१)।

“अशरीरं वै वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः”(छां० ८/१२/१) इति प्रिय-अप्रिय-स्पर्शन-प्रतिषेधात् चोदना-लक्षण-धर्म-कार्यत्वं मोक्ष-आख्यस्य अशरीरत्वस्य प्रतिषिध्यते इति गम्यते।

दूसरी ओर उसी मन्त्रमें जो कहा है - “जिसे शरीर नहीं है उसे निश्चितही सुख-दुःखोंका स्पर्श नहीं होता है”(छां० ८/१२/१) - उससे मोक्ष नामक अशरीरत्वमें सुख-दुःखोंका स्पर्श न होना बतानेसे वह ‘मोक्ष’ वेदोंके ‘करो’ उपदेशसे प्राप्त होनेवाले ‘धर्म’का फल नहीं है - यही बताया जा रहा है, यह जाना जाता है।

धर्म-कार्यत्वे हि प्रिय-अप्रिय-स्पर्शन-प्रतिषेधो न उपपद्यते।

क्योंकि धर्मका फल होने पर तो वहाँ सुख-दुःखका स्पर्श न होना युक्तिसङ्गत नहीं होगा।

अशरीरत्वम् एव धर्म-कार्यम् इति चेत्।

अशरीरत्वको ही धर्मका फल मान लिया जाए तो?

न, तस्य स्वाभाविकत्वात्।

वह ठीक नहीं होगा, क्योंकि अशरीरत्व तो आत्माका स्वभावही है।

“अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेषु अवस्थितम् महान्तं विभुम् आत्मानं मत्वा धीरः न शोचति”(कठ०१/२/२१); “अप्राणः हि अमनाः शुभ्रः(मुण्ड० २/१/२); “असङ्गः हि अयं पुरुषः(बृ०४/३/१५) इत्यादि श्रुतिभ्यः।

“शरीरोंमें रहते हुए भी अशरीर, अनित्य पदार्थोंमें नित्य, महान् तथा सर्वव्यापी आत्माको जानकर विवेकी पुरुष शोक नहीं करते”(कठ०१/२/२१); “वह प्राणरहित, मनरहित और शुद्ध है”(मुण्ड०२/१/२); “क्योंकि यह पुरुष निःसङ्ग है”(बृ०४/३/१५) आदि वेदवाक्य इस स्वभावको बता रहे हैं।

अतः एव अनुष्ठेय-कर्म-फल-विलक्षणं मोक्षाख्यम् अशरीरत्वं नित्यम् इति सिद्धम्।

इसीलिए कियेजानेवाले कर्मोंके फलोंसे भिन्न लक्षणोंवाला मोक्ष नामक अशरीरत्व नित्य है, यह सिद्ध हुआ।

तत्र किञ्चित् परिणामि-नित्यं यस्मिन् विक्रियमाणे अपि तत् एव इदम् इति बुद्धिः न विहन्यते।

अब कोई पदार्थ तो बदलनेवाले होकर भी नित्य कहलाते हैं क्योंकि बदल जाने पर भी ‘यह पदार्थ वही है’ ऐसा बोध नष्ट नहीं होता।

यथा पृथिवी आदि जगत्-नित्यत्व-वादिनाम्। यथा च साङ्ख्यानां गुणाः।

उदाहरणार्थ - जगत्को नित्य माननेवालोंके मतमें पृथिवी आदि तथा साङ्ख्योंके मतमें ‘गुण’ नित्य कहलाते हैं।

इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थं नित्यं व्योमवत् सर्वव्यापि सर्व-विक्रिया-रहितं नित्य-तृप्तं निरवयवं स्वयं-ज्योतिः-स्वभावम्।

परन्तु यह अशरीरत्व तो सही अर्थमें नित्य है - कभी न बदलनेवाला, आकाशके समान सर्वव्यापी, सभी प्रकारके विकारोंसे रहित, सदाके लिए तृप्त, अवयवरहित, स्वयंज्योति स्वभाववाला है।

यत्र धर्म-अधर्मो सह कार्येण काल-त्रयं च न उपावर्तेते।

इसमें धर्म-अधर्म, उनके फल और तीनों कालोंको भी कोई स्थान नहीं है।

तत् एतत् अशरीरत्वं मोक्षाख्यम्।

ऐसा है यह मोक्षनामक अशरीरत्व।

“अन्यत्र धर्मात् अन्यत्र अधर्मात् अन्यत्र अस्मात् कृत-अकृतात् अन्यत्र भूतात् च भव्यात् च” (कठ०२/१४) इत्यादि श्रुतिभ्यः।

“ धर्मसे भिन्न, अधर्मसे भिन्न, कार्यसे भिन्न और उसके कारणसे भिन्न, भूतकालसे भिन्न और भविष्यत्कालसे भिन्न”(कठ०२/१४) आदि वेदवाक्योंसे यही स्पष्ट होता है।

अतः तत् ब्रह्म यस्य इयं जिज्ञासा प्रस्तुता।

इसलिए वही ब्रह्म है जिसे जाननेकी इच्छा-कोशिश यहाँ चर्चाका विषय है।

तत् यदि कर्तव्य-शेषत्वेन उपदिश्येत तेन च कर्तव्येन साध्यः चेत् मोक्षः अभ्युपगम्येत अनित्य एव स्यात्।

अब वह ब्रह्म यदि किसी कर्मके अङ्गभूत है, इस प्रकार बताया गया हो और वह कर्म करनेके बाद मोक्षप्राप्ति मानी जाती हो तो वह मोक्ष अनित्यही होगा।

तत्र एवं सति यथा-उक्त-कर्म-फलेषु एव तारतम्य-अवस्थितेषु अनित्येषु कश्चित् अतिशयः मोक्षः इति प्रसज्येत।

और वैसा होनेसे पहले बताये हुए कर्मोंकी कम-अधिकतासे होनेवाले अनित्य फलोंमेंसे ही ‘मोक्ष’ एक कुछ बेहतर-सा फल होगा।

नित्यः च मोक्षः सर्वैः मोक्षवादिभिः अभ्युपगम्यते।

‘मोक्ष’ माननेवाले सभीने मोक्षको नित्यही समझा है।

अतः न कर्तव्य-शेषत्वेन ब्रह्म-उपदेशः युक्तः।

अतएव कर्तव्यके अङ्गके रूपमे ब्रह्मका उपदेश सङ्गत नहीं है।

अपि च “ब्रह्म वेद ब्रह्म एव भवति”(मुण्ड०३/२/९); “क्षीयन्ते च अस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे”(मुण्ड०२/२/८); “आनन्दं ब्रह्मणः विद्वान् न बिभेति कुतश्चन”(तै०२/९); “अभयं वै जनक प्राप्तः असि”(बृ०४/२/४); “तत् आत्मानम् एव अवेद् अहं ब्रह्म अस्मि इति तस्मात् तत् सर्वम् अभवत्”(बृ०१/४/१०); “तत्र कः मोहः कः शोकः एकत्वम् अनुपश्यतः”(ईश०७) इति एवम् आद्याः श्रुतयः ब्रह्मविद्या-अनन्तरं मोक्षं दर्शयन्त्यः मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति।

और भी “जो ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्मही हो जाता है”(मुण्ड०३/२/९); “उस कार्य-कारण-रूप ब्रह्मको जाननेसे उसके सारे कर्म नष्ट हो जाते हैं”(मुण्ड०२/२/८);



जो ब्रह्मका आनन्द जानता है उसे किसीसे भी भय नहीं होता”(तै०२/९); “हे जनक, तू निर्भय हो गया”(बृ०४/२/४); “उसने ‘मैं ब्रह्म हूँ’ इस प्रकार अपनेको ही जाना और वह सब कुछ हो गया”(बृ०१/४/१०); “सब कुछ एक ही है, यह उपदेशके अनुसार जिसने जाना, उसे शोक या मोह कहाँसे होगा”(ईश०७) आदि वेदवाक्य ब्रह्मज्ञानके तुरन्त बाद मोक्ष मिल जाता है, यह बताते हुए बीचमें कुछ ‘करना’ बाकी नहीं रह जाता, यही बताते हैं।

तथा “तत् ह एतत् पश्यन् ऋषिः वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुः अभवं सूर्यः च”(बृ०१/४/१०) इति ब्रह्म-दर्शन-सर्व-आत्म-भावयोः मध्ये कर्तव्य-अन्तर-वारणाय उदाहार्यम्।

तथा ब्रह्मदर्शन एवं सबके साथ एकात्मभावके बीचमें अन्य कुछ करने का नहीं रह जाता, यह बतानेके लिए “प्रसिद्ध है कि उसे स्वयंके रूपमें देखते हुए वामदेव ऋषिने ‘मैंही मनु हुआ था और मैंही सूर्य हुआ था’, यह जान लिया था”(बृ०१/४/१०), यह वेदवाक्य दिखा देना चाहिए।

यथा तिष्ठन् गायति इति तिष्ठति-गायत्योः-मध्ये तत्-कर्तृकं कार्य-अन्तरं नास्ति इति गम्यते।

जैसेकि “खड़ा हुआ गाता है” इस वाक्यमें ‘खड़े हुए’ और ‘गाते हुए’, इनके बीचमें उस मनुष्य द्वारा अन्य कोई क्रिया नहीं की गई, यही जाना जाता है, वैसे ही ब्रह्मदर्शन एवं सबके साथ एकात्मभावके बीचमें अन्य कुछ करने का नहीं रह जाता।

“त्वं हि नः पिता यः अस्माकम् अविद्यायाः परं पारं तारयसि”(प्रश्न०६/८)  
“श्रुतं हि एव मे भगवत्-दृशेभ्यः तरति शोकम् आत्म-वित् इति सः अहं भगवः शोचामि तत् मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु”(छा०७/१/३)

“तस्मै मृदित-कषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः”  
(छा०७/१६/२) इति च एवम् आद्याः श्रुतयः मोक्ष-प्रतिबन्ध-निवृत्ति-मात्रम् एव आत्मज्ञानस्य फलं दर्शयन्ति।

“जो आप हमें अज्ञानके उस पार पहुँचाते हैं, वे आप हमारे पिता होते हो”  
(प्रश्न०६/८); “आप-जैसे पूजनीयोंसे मैंने सुना है कि अपने स्वरूपको जाननेवाला शोकके पार चला जाता है और हे भगवन्, वही मैं शोक कर रहा हूँ। तो हे भगवन्, मुझे शोकके पार ले जाइए”(छा०७/१/३) “जिसके दोष नष्ट हो गये हैं, उसे भगवान् सनत्कुमार अन्धकारके पारवाला स्थान दिखा देते हैं”(छा० ७/१६/२), इत्यादि वेदवाक्य यही बताते हैं कि आत्मज्ञानका फल केवल मोक्षकी रुकावटोंको दूर करना है।

तथा च आचार्य-प्रणीतं न्याय-उपबृंहितं सूत्रम् - “दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-  
दोष- मिथ्याज्ञानानाम् उत्तर-उत्तर-अपाये तत्-अनन्तर-अपायात्  
अपवर्गः”(न्या०सू०१/१/२) इति।

इसी अर्थमें (गौतम)आचार्यका तर्कसङ्गत सूत्र है - “दुःख, (पुनर्)जन्म, (धर्म-  
अधर्मका आचरण करनेकी) प्रवृत्ति, (काम, क्रोध इ०) दोष एवं मिथ्याज्ञान, इनमेंसे  
एकके बाद एक दिखाए पदार्थोंके नष्ट होने पर पहिले-पहिलेवाले पदार्थोंका नाश  
होकर मोक्ष प्राप्त हो जाता है।”(न्या०सू०१/१/२)

मिथ्या-ज्ञान-अपायः च ब्रह्म-आत्मा-एकत्व-विज्ञानात् भवति।

और मिथ्या ज्ञानका नाश तो ब्रह्म तथा आत्माके एकत्वके अनुभवरूप ज्ञान से होता है।

न च इदं ब्रह्म-आत्मा-एकत्व-विज्ञानं सम्पद्-रूपम् यथा “अनन्तं वै  
मनः अनन्ताः विश्वेदेवाः अनन्तम् एव स तेन लोकं जयति”(बृ०३/१/९)  
इति।

ब्रह्म और आत्मा के एकत्वका यह जो अनुभवात्मक ज्ञान है, वह ‘सम्पद् उपासना’  
नहीं है - जिसमेंकि किसी समानताके कारण निम्न प्रकारकी वस्तुको उच्च प्रकारकी  
वस्तु मान लिया जाता है - उदाहरणार्थ - “मन(की वृत्तियाँ) अनन्त हैं और विश्वेदेव  
भी (संख्यामें) अनन्त हैं, इसलिए - इस प्रकारकी भावना करनेवाले को - अनन्त  
नामक लोक की ही प्राप्ति होती है”(बृ०३/१/९), इस वाक्यमें कहा है।

न च अध्यास-रूपम् यथा “मनः ब्रह्म इति उपासीत”(छा०३/१८/१)  
“आदित्यः ब्रह्म इति आदेशः”(छा०३/१९/१) इति च मन-आदित्य-आदिषु  
ब्रह्म-दृष्टि-अध्यासः।

और न ही यह ज्ञान किसी वस्तु पर दूसरी किसी वस्तुको चढ़ा लेना ही है जैसा कि  
“मन को ब्रह्म मानकर उपासना करो”(छा०३/१८/१), “आदित्य को ब्रह्म का प्रतीक  
मानकर उपासना करो”(छा०३/१९/१) में मन और आदित्य में ब्रह्मदृष्टि करने को कहा  
गया है।

न अपि विशिष्ट-क्रिया-योग-निमित्तम् - “वायुः वाव संवर्गः”  
(छा०४/३/१) “प्राणः वाव संवर्गः”(छा०४/३/३) इति-वत्।

और यह ज्ञान किसी विशिष्ट क्रियाके संयोगके कारणभी नहीं है, जैसेकि “वायु  
(प्रलयके समय, पूरी दुनियाको) अपनेमें समेट लेता है”(छा०४/३/१) और “प्राण  
(गहरी नींदमें, सारी इन्द्रियोंको) अपनेमें समेट लेता है(छा०४/३/३)”, (अतः प्राण

तथा वायु एक ही हैं), इस वेदवाक्यमें बताया गया है।

न अपि आज्य-आवेक्षण-आदि-कर्मवत् कर्म-अङ्ग-संस्कार-रूपम्।

जैसे हवनमें जो घी डाला जायगा, उसे यजमानकी पत्नीने देख लेनेसे वह शुद्ध हो जाता है, वैसे ही कर्मोंका अङ्ग जो जीव उसे ब्रह्मके साथ एक मान लेनेसे वह शुद्ध हो जाता है, इस प्रकार यह ज्ञान शुद्धीकरणके रूपमें भी नहीं है।

सम्पद्-आदि-रूपे हि ब्रह्म-आत्मा-एकत्व-विज्ञाने अभ्युपगम्यमाने “तत् त्वम् असि”(छा०६/८/७) “अहम् ब्रह्म अस्मि”(बृ०१/४/१०) “अयम् आत्मा ब्रह्म”(बृ०२/५/१९) इति एवम् आदीनां वाक्यानां ब्रह्म-आत्मा-एकत्व-वस्तु-प्रतिपादनपरः पद-समन्वयः पीड्यते।

क्योंकि ब्रह्म और आत्मा के एकत्वका यह जो अनुभवात्मक ज्ञान है, उसे ‘सम्पद् उपासना’ या उस प्रकारकी किसी भावनाके रूपमें समझ लिया जाए, तो फिर “वही तुम हो”(छा०६/८/७), “मैं ब्रह्म हूँ”(बृ०१/४/१०), “यह आत्मा ब्रह्म है”(बृ०२/५/१९), इत्यादि वाक्योंके अन्तर्गत शब्दोंका ब्रह्म और आत्माके एकत्वका ज्ञान करानेवाला जो आपसी सम्बन्ध है, वह खण्डित हो जाएगा।

“भिद्यते हृदय-ग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्व-संशयाः”(मुण्ड०२/२/८) इति च एवम् आदीनि अविद्या-निवृत्ति-फल-श्रवणानि उपरुध्येरन्।

तथा “हृदयकी गाँठ टूट जाती है, सारे संशय नष्ट होजाते हैं”(मु०२/२/८) इत्यादि ‘गलत ज्ञान हट जाना’रूप फल बतानेवाले वेदवाक्य भी गलत प्रतीत होंगे।

“ब्रह्म वेद ब्रह्म एव भवति”(मुण्ड०३/२/९) इति च एवम् आदीनि तत्-भावापत्ति वचनानि सम्पद्-आदि-रूपत्वे न सामञ्जस्येन उपपद्येरन्।

और ब्रह्म एवं आत्माके एकत्वका ज्ञान करानेवाले वचन सम्पदादि प्रकारसे ‘भावना’के अर्थमें लेने पर, “जो ब्रह्मको आत्मरूपमें जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है”(मु०३/२/९) इत्यादि, ‘जीवको ब्रह्मत्व प्राप्त होता है’ बतानेवाले वाक्योंका अर्थ ठीक नहीं हो पाता।

तस्मात् न सम्पद्-आदि-रूपं ब्रह्म-आत्मा-एकत्व-विज्ञानम्।

अतएव ब्रह्म और आत्माके एकत्वका अनुभवात्मक ज्ञान ‘सम्पद्’ इत्यादि प्रकारका नहीं है।

अतः न पुरुष-व्यापार-तन्त्रा ब्रह्म-विद्या।

इसलिए ब्रह्मज्ञान मनुष्यके कुछ करने पर निर्भर नहीं है।

किं तर्हि?

तो फिर?

प्रत्यक्ष-आदि-प्रमाण-विषय-वस्तु-ज्ञानवत् वस्तु-तन्त्रा एव।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे जानने योग्य वस्तुओंके ज्ञानके समान 'वस्तु' पर ही निर्भर होता है।

एवं-भूतस्य ब्रह्मणः तत्-ज्ञानस्य च न कयाचित् युक्त्या शक्यः कार्य-  
अनुप्रवेशः कल्पयितुम्।

इस प्रकार का जो ब्रह्म है, उसकी और उसके ज्ञानकी किसीभी तर्कसे किसी कर्मके फलके रूपमें कल्पना नहीं की जा सकती।

न च विदि-क्रिया-कर्मत्वेन कार्य-अनुप्रवेशः ब्रह्मणः, "अन्यत् एव तत्  
विदितात् अथो अविदितात् अधि"((केन १/३) इति विधि-क्रिया-कर्मत्व-  
प्रतिषेधात्, "येन इदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्"(बृ० २/४/१३)  
इति च।

उसी प्रकार, 'जानना' क्रिया का कर्म, इस रूपमें भी ब्रह्म का अन्तर्भाव 'कार्य'  
वस्तुओं में नहीं किया जा सकता; क्योंकि "जानी हुई चीजोंसे अन्य तथा न जानी  
हुई चीजों से भी अन्य"(केन० १/३) एवं "जिसके द्वारा मनुष्य यह सब जानता है,  
उसे वह किसके द्वारा जानेगा"(बृ० २/४/१३), इन वेदवाक्योंमें यह बताया गया है कि  
ब्रह्म 'जानना' क्रिया का कर्म नहीं हो सकता।

तथा उपास्ति-क्रिया-कर्मत्व-प्रतिषेधः अपि भवति - "यत् वाचा  
अनभ्युदितं येन वाक् अभ्युद्यते" इति अविषयत्वं ब्रह्मणः उपन्यस्य, "तत्  
एव ब्रह्म त्वं विद्धि न इदम् यत् इदम् उपासते"(केन० १/४) इति।

उसी प्रकार वेदवाक्योंसे यह भी जाना जाता है कि ब्रह्म 'उपासना' क्रिया का भी कर्म  
नहीं है; जैसेकि "जो वाणी से बोला नहीं जा सकता, अपितु जिसके द्वारा वाणी बोलती  
है" इस प्रकार ब्रह्म इन्द्रियोंका विषय नहीं है, बताकर फिर कहा कि "वही ब्रह्म है, ऐसा  
तू जान ले; जिसकी ब्रह्म मानकर लोग उपासना करते हैं, वह नहीं"(केन० १/४)।

अविषयत्वे ब्रह्मणः शास्त्र-योनित्व अनुपपत्तिः इति चेत्।

ब्रह्म यदि वाणी, मन इत्यादि का विषय न हो तो फिर शास्त्रभी उसे जाननेका साधन  
नहीं हो सकता, ऐसा कोई कहे तो?

ना।

तो कहना होगा कि यह सोच ठीक नहीं है।

अविद्या-कल्पित-भेद-निवृत्ति-परत्वात् शास्त्रस्य।

क्योंकि शास्त्र तो अविद्याके कारण माने गये भेदों को हटाने का ही काम करते हैं।

न हि शास्त्रम् इदन्तया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति।

ब्रह्म 'ऐसा है', इस प्रकार विषयरूप में उसे बताना शास्त्रोंका उद्देश्य नहीं है।

किं तर्हि?

तो फिर क्या?

प्रत्यक्-आत्मत्वेन अविषयतया प्रतिपादयत् अविद्या-कल्पितं वेद्य-वेदित्-वेदन-आदि भेदम् अपनयति।

'वह विषय नहीं है, वह तो भीतर होनेवाला हमारा स्वरूप है', यह बताकर अविद्याके द्वारा माने हुए 'जाननेकी वस्तु', 'जाननेवाला' और 'जानना' आदि भेदोंको शास्त्र हटा देता है।

तथा च शास्त्रम् - "यस्य अमतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।

अविज्ञातं विज्ञानतां विज्ञातम् अविज्ञानताम्"(केन० २/३) "न दृष्टेः द्रष्टारं

पश्येः, न श्रुतेः श्रोतारं शृणुया, न मतेः मन्तारं मन्वीथा, न विज्ञातेः

विज्ञातारं विजानीयाः"(बृ० ३/४/२) इति च एवम् आदि।

शास्त्रवाक्य देख लीजिए - "मैं नहीं जानता हूँ, ऐसा जो जानता है, वह सही जानता है; और जो 'मैं जानता हूँ', ऐसा सोचता है, वह ठीक नहीं जानता"(केन० २/३) एवं "दृष्टिके देखनेवाले को नहीं देख सकते, सुननेके सुननेवालेको नहीं सुन सकते, मननके मनन करनेवालेका मनन नहीं कर सकते, ज्ञान के जाननेवाले को नहीं जान सकते"(बृ० ३/४/२) - तथा इसी प्रकारके और भी वाक्य हैं।

अतः अविद्या-कल्पित-संसारित्व-निवर्तनेन नित्य-मुक्त-आत्म-स्वरूप-समर्पणात् न मोक्षस्य अनित्यत्व-दोषः।

अतएव शास्त्र के अविद्याद्वारा कल्पित संसार का भ्रम हटाकर नित्य मुक्त आत्मा का स्वरूप प्रकट करनेमें लगे हुए होने से मोक्षमें अनित्यताका दोष नहीं रहता।

यस्य तु उत्पाद्यः मोक्षः तस्य मानसं वाचिकं कायिकं वा कार्यम् अपेक्षते

इति युक्तम्।

जिसके मतमें मोक्ष एक उत्पन्न करने योग्य वस्तु है, उसके मतमें उस मोक्षका मानसिक, वाचिक या शारिरिक – किसी कर्म पर निर्भर होना युक्तियुक्त होगा।

तथा विकार्यत्वे च।

उसी प्रकार जिसके मतमें मोक्ष किसी वस्तु का रूप बदलकर प्राप्त करने योग्य वस्तु होगी, उसके लिए भी वैसा ही होगा।

तयोः पक्षयोः मोक्षस्य ध्रुवम् अनित्यत्वम्।

उन दोनोंके पक्षमें मोक्षका अनित्य होना निश्चित है।

न हि दधि-आदि विकार्यम् उत्पाद्यं वा घट-आदि नित्यं दृष्टे लोके।

दूधको बदलकर बननेवाले दही का या मिट्टीसे उत्पन्न होनेवाले घड़ेका नित्य होना दुनियामें कभी देखा नहीं जाता।

न च आप्यत्वेन अपि कार्य-अपेक्षा, स्व-आत्म-स्वरूपत्वे सति अनाप्यत्वात्।

तथा मोक्ष एक 'पाने'लायक वस्तु होनेके नाते उसके लिए कुछ 'करने'की ज़रूरत होती है, ऐसा कहो तो वह भी गलत होगा, क्योंकि वह तो खुदका स्वरूप या असलियत होने से 'पाने'की वस्तु है ही नहीं।

स्वरूप-व्यतिरिक्तत्वे अपि ब्रह्मणः न आप्यत्वम्, सर्वगतत्वेन नित्य-आप्त-स्वरूपत्वात् सर्वेण ब्रह्मणः आकाशस्य इव।

हमारी असलियतसे ब्रह्म अलग है, ऐसा मानने परभी वह 'पाने'लायक नहीं हो सकता, क्योंकि वह सर्वत्र फैला हुआ होने के नाते आकाशके समान सभीके लिए सर्वदा पाया हुआही है।

न अपि संस्कार्यः मोक्षः, येन व्यापारम् अपेक्षेता।

आत्माको शुद्ध करके मोक्ष सिद्ध होता हो तो फिरभी उसके लिए कुछ करनेकी आवश्यकता होती, परन्तु मोक्ष ऐसा भी नहीं है।

संस्कारः हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन वा स्यात् दोष-अपनयनेन वा।

किसी वस्तुको शुद्ध करनेका अर्थ या तो उस वस्तुमें गुण जोड़ना होता है या फिर दोष हटाना।

न तावत् गुण-आधानेन सम्भवति, अनाधेय-अतिशय-ब्रह्म-स्वरूपत्वात् मोक्षस्य।

यहाँ मोक्ष तो गुण बढ़ानेसे नहीं हो सकता, क्योंकि जिसमें कुछ अधिक जोड़ा नहीं जा सकता वह ब्रह्मही मोक्षका स्वरूप है।

न अपि दोष-अपनयनेन, नित्य-शुद्ध-ब्रह्म-स्वरूपत्वात् मोक्षस्य।

और न ही मोक्ष दोष हटानेसे होगा, क्योंकि जो सदासे शुद्ध है, वह ब्रह्मही मोक्षका स्वरूप है।

स्वात्म-धर्मः एव सन् तिरोभूतः मोक्षः क्रियया आत्मनि संस्क्रियमाणे अभिव्यज्यते, यथा आदर्शो निघर्षण-क्रियया संस्क्रियमाणे भास्वरत्वं धर्म इति चेत्।

आत्माका स्वभावगत धर्म मोक्ष होनेपर भी वह लुप्त हो जाता है, क्रियाके द्वारा शुद्ध किये जानेपर वह फिर प्रकट हो जाता है, जैसे आयनेका धर्म चमकना होनेपर भी वह नष्ट होनेपर घिसनेसे शुद्ध किये जानेपर फिर प्रकट हो जाता है, ऐसा मानें तो?

न । क्रिया-आश्रयत्व-अनुपपत्तेः आत्मनः।

वह ठीक नहीं होगा। क्योंकि आत्मा किसी क्रिया का आश्रय नहीं बन सकता।

यत्-आश्रया क्रिया, तम् अविकुर्वती नैव आत्मानं लभते।

जिसके आश्रयसे कोई क्रिया होती है, उसमें बदलाव लायेबिना वह बनती ही नहीं है।

यदि आत्मा स्व-आश्रय-क्रियया विक्रियेत अनित्यत्वम् आत्मनः प्रसज्येत।

यदि क्रियासे आत्मामें बदलाव आता हो तो फिर आत्मा अनित्य अर्थात् 'बदलनेवाली' हो जायेगी।

"अविकार्यः अयम् उच्यते" (भगवद्गीता २/२५) इति च एवम् आदीनि वाक्यानि बाध्येरन्। तत् च अनिष्टम्।

और फिर "वह न बदलनेवाली कहलाती है" (भगवद्गीता २/२५) यह तथा इसप्रकारके वाक्य गलत साबित होंगे। एवम् वैसा तो नहीं होना चाहिए।

तस्मात् न स्व-आश्रया क्रिया आत्मनः सम्भवति।

अतएव आत्मामें आश्रित कोई क्रिया आत्मामें सम्भव नहीं होती है।

अन्या-आश्रयायाः तु क्रियायाः अविषयत्वात् न तया आत्मा संस्क्रियते।

अन्य किसी पर होनेवाली क्रियासे आत्मा प्रभावित न होनेसे वह आत्माकी शुद्धि का कारण नहीं बन सकती।

ननु देह-आश्रयया स्नान-आचमन-यज्ञोपवीत-आदिकया क्रियया देही संस्क्रियमाणः दृष्टः।

शंका होती है कि देहमें होनेवाली स्नान, मुँह धोना, जनेऊ पहिनना आदि क्रियाओंसे देह धारण करनेवाले की शुद्धि होती है, यह तो देखा जाता है।

न, देह-आदि-संहतस्य एव अविद्यया गृहीतस्य आत्मनः संस्क्रियमाणत्वात्।

तो यह कोई उदाहरण ही नहीं है, क्योंकि, गलत ज्ञानसे कल्पित, देहादिसे जुड़ी हुई आत्माका ही इसमें शुद्धीकरण माना गया है।

प्रत्यक्षं हि स्नान-आचमनादेः देह-समवायित्वम्।

स्नान, मुँह धोना आदिका देह आदिसे जुड़ा हुआ होना तो प्रत्यक्ष ही है।

तया देह-आश्रयया तत्-संहत एव कश्चित् अविद्यया आत्मत्वेन परिगृहीतः संस्क्रियते इति युक्तम्।

तो फिर उन देह पर आश्रित क्रियाओं से, देहसे जुड़े हुए किसीको, जिसे अविद्यासे आत्मा मान लिया गया है, उसे ही शुद्ध किया जाता है, यही मानना ठीक होगा।

यथा देह-आश्रय-चिकित्सा-निमित्तेन धातु-साम्येन तत्-संहतस्य तत्-अभिमानिनः आरोग्य-फलं 'अहम् अरोगः' इति यत्र बुद्धिः उत्पद्यते।

उदाहरण - देहपर उपचार करनेसे देहको गढ़नेवाले धातु सन्तुलित हो जाते हैं, उससे जो देहसे जुड़ा हुआ है - देहको 'मैं' मानता है, उसेही उपचारका फल जो आरोग्य, वह अर्थात् 'मैं रोगसे छूट गया', इस प्रकारका बोध होता है।

एवं स्नान-आचमन-यज्ञोपवीत-आदिकया 'अहं शुद्धः संस्कृतः' इति यत्र बुद्धिः उत्पद्यते सः संस्क्रियते।

इसी प्रकार स्नान, मुँह धोना, जनेऊ इत्यादिसे 'मैं शुद्ध, पवित्र हो गया', ऐसा बोध जिसमें उत्पन्न होता है, वही पवित्र बनता है।

स च देहेन संहत एव।

वह तो शरीरसे जुड़ा हुआ ही है।



तेन एव हि अहं कर्त्रा अहं प्रत्यय-विषयेण प्रत्ययिना सर्वाः क्रिया निवर्तन्ते,  
तत्-फलं च स एव अश्नाति।

उसीके द्वारा - जो स्वयंको कर्ता जानता है, उस अहं ज्ञानके विषयवालेके द्वारा ही सारी क्रियाएँ की जाती हैं और वही उनका फलभी अनुभवता है।

"तयोः अन्यः पिप्पलं स्वादु अत्ति अनश्नन् अन्यः अभिचाकशीति"  
(मुण्डक ३/१/१) इति मन्त्रवर्णात्, "आत्मा-इन्द्रिय-मनः-युक्तं भोक्ता इति  
आहुः मनीषिणः"(कठ० १/३/४) इति च।

"उन दो मेंसे एक पीपलके स्वादिष्ट फल खाता है और दूसरा न खाते हुए देखता रहता है"(मुण्डक ३/१/१), ऐसा संहिता भागवाली(मुण्डक) उपनिषदमें तथा "आत्मा, इन्द्रियाँ और मन से जुड़े हुए को ज्ञानीजन भोक्ता कहते हैं"(कठ० १/३/४), इस वाक्यमें - यही बताया गया है।

तथा "एकः देवः सर्व-भूतेषु गूढः सर्व-व्यापी सर्व-भूत-अन्तरात्मा।  
कर्म-अध्यक्षः सर्व-भूत-अधिवासः साक्षी चेता केवलः निर्गुणः च"  
(श्वे० ६/११) इति, "स परि-अगात् शुक्रम् अकायम् अव्रणम् अस्नाविरं  
शुद्धम् अ-पाप-विद्धम्"(ई० ८) इति च, एतौ मन्त्रौ अनाधेय अतिशयतां  
नित्य-शुद्धतां च ब्रह्मणः दर्शयतः।

और भी "एकही देव सभी प्राणियोंमें छिपा हुआ है; वह सभीमें भरा हुआ है; सभी प्राणियोंकी भीतरी असलियत है; सभी कर्मोंका अध्यक्ष है; सभी प्राणियोंको अपनेमें बसाये हुए है; वह सभीका साक्षी, चेतनता देनेवाला, एकमेव अद्वय तथा गुणोंसे परे है"(श्वे० ६/११), इस प्रकार एवं "वह सब ओर गया हुआ है, पवित्र है, सूक्ष्म और स्थूल शरीरसे परे है, शुद्ध है, पाप उसे स्पर्श नहीं कर सकता"(ई० ८), इस प्रकार - ये दोनों वाक्य ब्रह्मकी 'जिसमें कुछ जोड़ा नहीं जा सकता' ऐसी श्रेष्ठता और नित्य शुद्धता दिखाते हैं।

ब्रह्म-भावः च मोक्षः।

एवं ब्रह्मका स्वरूपही मोक्ष है।

तस्मात् न संस्कार्यः अपि मोक्षः।

इसलिए मोक्ष संस्कारके द्वारा भी प्राप्त करनेकी वस्तु नहीं है।

अतः अन्यत् मोक्षं प्रति क्रिया-अनुप्रवेशद्वारं न शक्यं केनचित् दर्शयितुम्।

अतएव मोक्षके बारेमें क्रियाका प्रवेश कराने का कोईउपाय, कोईभी नहीं दिखा सकता।

तस्मात् ज्ञानम् एकं मुक्त्वा क्रियाया गन्ध-मात्रस्य अपि अनुप्रवेशः इह न उपपद्यते।

इसलिए एकमेव ज्ञानको छोड़ क्रियाका तनिकसा भी प्रवेश यहाँ युक्तियुक्त नहीं है।

ननु ज्ञानं नाम मानसी क्रिया।

किन्तु ज्ञानभी तो मानसिक क्रिया ही है।

न। वैलक्षण्यात्।

नहीं; क्योंकि दोनोंकी पहिचान भिन्न-भिन्न है।

क्रिया हि नाम सा, यत्र वस्तु-स्वरूप-निरपेक्ष एव चोद्यते, पुरुष-चित्त-व्यापार-अधीना च, यथा "यस्यै देवतायै हविः गृहीतं स्यात् तां मनसा ध्यायेत् वषट्-करिष्यन्" इति, "सन्ध्यां मनसा ध्यायेत्"(ऐ०ब्रा०३/८/१) इति च एवम् आदिषु।

क्रिया तो उसीको कहते हैं कि जिसमें किसी वस्तुके स्वरूपको न सोचते हुए उसके बारेमें कुछ 'करने'के लिए कहा जाता है और वह करनेवालेके मन पर निर्भर होता है, उदाहरणके लिए देखें - "जिस देवताके लिए हविको लिया होगा, उसीका 'वषट्' कहते हुए मनसे ध्यान करे", "सन्ध्याका मनसे ध्यान करे"(ऐ०आ०३/८/१) इत्यादिमें क्रिया है।

ध्यानं चिन्तनं यद्यपि मानसम्, तथापि पुरुषेण कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा वा कर्तुं शक्यं, पुरुष-तन्त्रत्वात्।

ध्यान या चिन्तन यद्यपि मानसिक है, तथापि वह पुरुषके द्वारा किया जाना या न किया जाना या दूसरे प्रकारसे किया जाना सम्भव है, क्योंकि वह करनेवालेके अधीन है।

ज्ञानं तु प्रमाण-जन्यम्।

जबकि ज्ञान तो ज्ञानके सही साधनोंसे पैदा होता है।

प्रमाणं च यथा-भूत-वस्तु-विषयम्।

और सही साधनतो वस्तु जैसी हो उसी पर निर्भर होता है।

अतः ज्ञानं कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा वा कर्तुम् अशक्यं।

इसलिए ज्ञान का किया जाना या न किया जाना या दूसरे प्रकारसे किया जाना सम्भव नहीं है।

केवलं वस्तु-तन्त्रम् एव तत्; न चोदना-तन्त्रम् न अपि पुरुष-तन्त्रम्;  
तस्मात् मानसत्वे अपि ज्ञानस्य महत् वैलक्षण्यम्।

वह तो केवल वस्तु पर ही निर्भर है; न तो 'ऐसा करो' कहने पर निर्भर है न करनेवाले पर; इसलिए मानसिक होने परभी ज्ञानमें क्रियासे बहुत बड़ा अन्तर है।

यथा च "पुरुषो वाव गौतम अग्निः" "योषा वाव गौतम अग्निः"

(छा०५/७,८/१) इति अत्र योषित्-पुरुषयोः अग्नि-बुद्धिः मानसी भवति;  
केवल चोदना-जन्यत्वात् तु क्रिया एव सा पुरुष-तन्त्रा च; या तु प्रसिद्धे  
अग्नौ अग्नि-बुद्धिः, न सा चोदना-तन्त्रा, न अपि पुरुष-तन्त्रा; किं तर्हि,  
प्रत्यक्ष-विषय-वस्तु-तन्त्रा एव इति ज्ञानम् एव एतत्; न क्रिया - एवं  
सर्व-प्रमाण-विषय-वस्तुषु वेदितव्यम्।

औरभी उदाहरण देखे जा सकते हैं - "हे गौतम, पुरुष ही अग्नि है", "हे गौतम,  
स्त्रीही अग्नि है" (छा०५/७,८/१) इत्यादिमें स्त्री-पुरुषमें जो अग्नि सोचने को कहा  
गया है, वह मानसिक है - वह केवल कहनेसे उपजी होनेके कारण 'क्रिया' है, और  
वह करनेवालेके अधीन भी है; परन्तु जो प्रसिद्ध अग्निके बारेमें अग्नि-बोध है, वह न  
तो किसीके कहने पर निर्भर है न सोचनेवाले पर; तो फिर क्या है? - जो वस्तु  
प्रत्यक्ष अनुभवका विषय है उसीपर निर्भर है और इसलिए वह 'ज्ञान'ही है, न कि  
'क्रिया' - यही बात जो सही साधनोंसे जानी जाती है, उन सभी वस्तुओंके बारेमें  
जाननी चाहिए।

तत्र एवं सति यथा-भूत-ब्रह्म-आत्म-विषयम् अपि ज्ञानं न चोदना-तन्त्रम्।

जब यह बात ऐसी है तब - 'ब्रह्मही आत्मा है', इसप्रकारका सही ज्ञान भी 'ऐसा  
करो' कहनेपर निर्भर नहीं है।

तत्-विषये लिङ्-आदयः श्रूयमाणाः अपि अनियोज्य-विषयत्वात्  
कुण्ठीभवन्ति उपल-आदिषु प्रयुक्त-क्षुर-तैक्ष्ण्य-आदिवत्, अहेय-  
अनुपादेय-वस्तु-विषयत्वात्।

उस विषयमें 'करो' आदि अर्थके शब्दोंका प्रयोग यद्यपि सुना जाता है, तो भी उनका  
प्रयोग जिसमें नहीं हो सकता, ऐसी वस्तुके बारे में होनेसे उन शब्दोंका भाव कट  
जाता है, जैसे छुरेकी तेज की हुई धारभी पत्थरके ऊपर चलानेसे बेकाम होती है;  
क्योंकि वह (ब्रह्म) वस्तु छोड़ने या लेने लायक नहीं है।

किम्-अर्थानि तर्हि "आत्मा वै अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः" (बृ०२/४/५) इति-

आदीनि विधिच्छायानि वचनानि?

तो फिर "अरी, आत्माका प्रत्यक्ष अनुभव कर लेना चाहिए, उसे सुनना चाहिए" (बृ०२/४/५) इत्यादि कुछ करनेको बतानेवाले-से वचन किसलिए हैं?

स्वाभाविक-प्रवृत्ति-विषय-विमुखीकरणार्थानि इति ब्रूमः।

तो हमारा उत्तर है कि - मनुष्यकी जो स्वाभाविक प्रवृत्ति विषयोंकी ओर होती है, उससे उसे दूर हटानेके लिए हैं।

यो हि बहिर्मुखः प्रवर्तते पुरुषः 'इष्टं मे भूयात् अनिष्टं मा भूत्' इति, न च तत्र आत्यन्तिकं पुरुषार्थं लभते।

मनुष्य जो 'मेरा भला हो, बुरा न हो', इस इच्छासे बाहरकी ओर आगे बढ़ता है, उससे उसे जीवनमें जो पानेपर और कुछभी पानेको नहीं रह जाता, वह सर्वश्रेष्ठ प्राप्ति नहीं होती।

तम् आत्यन्तिक-पुरुषार्थ-वाञ्छितं स्वाभाविकात् कार्य-करण-सङ्घात-प्रवृत्ति-गोचरात् विमुखीकृत्य प्रत्यक्-आत्म-स्रोतस्तया प्रवर्तयन्ति "आत्मा वै अरे द्रष्टव्यः" (बृ०२/४/५) इति-आदीनि।

जीवनकी उस सर्वश्रेष्ठ प्राप्ति चाहनेवालेको "अरी, आत्माका प्रत्यक्ष अनुभव कर लेना चाहिए, उसे सुनना चाहिए" (बृ०२/४/५) इत्यादि वचन शरीर और इन्द्रियोंकी स्वाभाविक गति के विषयोंसे हटाकर उसे भीतरी आत्माकी ओर आगे बढ़ा देते हैं।

तस्य आत्मा-अन्वेषणाय प्रवृत्तस्य अहेयम् अनुपादेयम् च आत्म-तत्त्वं उपदिश्यते - "इदं सर्वं यत् अयम् आत्मा" (बृ०२/४/६) "यत्र तु अस्य सर्वम् आत्मा एव अभूत् तत् केन कं पश्येत् ... केन कं विजानीयात् ... विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्" (बृ०४/५/१५), "अयम् आत्मा ब्रह्म" (बृ०२/५/१९) इति-आदिभिः।

आत्माके स्वरूपकी खोजमें लगे हुए उसे - "यह जो कुछ है, वह आत्मा है" (बृ०२/४/६), "जिस अवस्थामें इसके लिए सब कुछ आत्मा ही होगया उस अवस्थामें वह किसके द्वारा किसे देखे, ... किसके द्वारा किसे जाने ... "जाननेवाले को किसके द्वारा जाने" (बृ०४/५/१५), "यह आत्मा ब्रह्म है" (बृ०२/५/१९) इत्यादि वचनोंद्वारा जो 'न छोडनेयोग्य है, न लेने योग्य', इस प्रकारके आत्माके स्वरूपका उपदेश किया जाता है।

यत् अपि अ-कर्तव्य-प्रधानम् आत्मज्ञानं हानाय उपादानाय वा न भवति

इति, तत् तथा एव इति अभ्युपगम्यते।

और एक बात - 'कुछ करना नहीं होता', यही आत्मज्ञानकी विशेषता होनेसे उससे कुछ छोड़ना या लेना नहीं बनता, यह सच है और हमारा अनुभवभी वैसा ही है।

अलङ्कारः हि अयम् अस्माकम् - यत् ब्रह्म-आत्मा-अवगतौ सत्यां सर्व-कर्तव्यता-हानिः कृतकृत्यता च इति।

और यह तो हमारा भूषण है कि ब्रह्मको अपनी असलियत के रूपमें जान लेने-पा लेने पर सभी 'कर्तव्यता' समाप्त होकर 'जो करना था, वह कर लिया है', ऐसी स्थिति हो जाती है।

तथा च श्रुतिः - "आत्मानं चेत् विजानीयात् अयम् अस्मि इति पूरुषः; किम् इच्छन् कस्य कामाय शरीरम् अनुसञ्ज्वरेत्" (बृ०४/४/१२) इति, "एतत् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यः च भारत" (भ०गी०१५/२०) इति च स्मृतिः।

वेद भी यही कहते हैं कि "यदि कोई मनुष्य आत्माको 'यह मैं हूँ' इस तरह जान ले, तो वह किस इच्छासे, किसकी इच्छा पूरी करनेके लिए शरीर के दुःख भोगेगा?" (बृ०४/४/१२) और स्मृतिभी कहती है कि - "यह जानकर मनुष्य बुद्धिमान होकर अपने सारे कर्तव्योंको समाप्त कर लेता है" (भ०गी०१५/२०)।

तस्मात् न प्रतिपत्ति-विधि-शेषतया ब्रह्मणः समर्पणम्।

अतएव 'जान लो', इस तरह कुछ 'करने'को कहनेवाले आदेश के अङ्गके रूपमें ब्रह्मका उपदेश नहीं दिया जाता है।

यत् अपि केचित् आहुः - 'प्रवृत्ति-निवृत्ति-विधि-तत्-शेष-व्यतिरेकेण केवल-वस्तु-वादी वेद-भागः न अस्ति' इति, तत् न; औपनिषदस्य पुरुषस्य अनन्य-शेषत्वात्।

और जो कुछ लोग यह कहते हैं कि 'करने या न करने का उपदेश करनेवाले या उन्हींके अंगभूत वेदवाक्योंके अतिरिक्त केवल वस्तुका स्वरूप बतानेवाला वेदोंका कोई भाग होताही नहीं', तो उनका वह कहना गलत है; क्योंकि उपनिषदोंमें जिस 'पुरुष' की बात कही गयी है, वह किसीका भी 'अंग' नहीं है।

यः असौ उपनिषत्सु एव अधिगतः पुरुषः असंसारी ब्रह्म-स्वरूपः उत्पाद्य-आदि-चतुर्विध-द्रव्य-विलक्षणः स्व-प्रकरणस्थः अन्-अन्य-शेषः, न असौ न अस्ति इति न अधिगम्यते इति वा शक्यं वदितुम्; "स एष न इति

न इति आत्मा" (बृ०३/९/२६) इति आत्म-शब्दात् आत्मनः च प्रत्याख्यातुम् अशक्यत्वात्।

यह जो उपनिषदोंसेही जाना जाता है, वह पुरुष, पुनर्जन्मको प्राप्त न होनेवाला, ब्रह्मस्वरूप, उत्पन्न होनेवाले इत्यादि चार प्रकारके द्रव्योंसे अलग पहिचानवाला है, वह तो अपनेही स्वतन्त्र प्रकरणमें वर्णित होनेसे किसीका अङ्गभूत नहीं है – वह नहीं है, या जाना नहीं जा सकता, ऐसा कहना सम्भव नहीं है; क्योंकि "वह यह 'यह नहीं, यह नहीं' शब्दोंसे बताया जानेवाला आत्मा" (बृ०३/९/२६) – इस प्रकार 'आत्मा' नामसे बताया गया है; और आत्माको अर्थात् स्वयंको कोई नकार नहीं सकता।

य एव निराकर्ता तस्य एव आत्मत्वात्।

क्योंकि उसे जो नकारेगा, वह स्वयं ही उसका आत्मा है।

ननु आत्मा अहं-प्रत्यय-विषयत्वात् उपनिषत्सु एव विज्ञायते इति अनुपपन्नम्; न; तत्-साक्षित्वेन प्रत्युक्तत्वात्।

यदि कहो कि चूँकि 'मैं' शब्दसे ही आत्माका बोध हो जाता है, अतः 'उसका अनुभव उपनिषदोंसे ही प्राप्त होता है', कहना ठीक नहीं है; तो यह बात सही नहीं है क्योंकि मैं शब्दसे जिसका बोध होता है, उसे जाननेवाला आत्मा है, इसप्रकार वह बात काटी जा चुकी है।

न हि अहं-प्रत्यय-विषय-कर्तृ-व्यतिरेकेण तत्-साक्षी सर्व-भूतस्थः समः एकः कूटस्थ-नित्यः पुरुषः विधि-काण्डे तर्क-समये वा केनचित् अधिगतः सर्वस्य आत्मा।

'मैं' शब्दसे जिसका बोध होता है और जो 'कर्ता' होता है, उससे अलग, उसे जाननेवाला, सभी प्राणियोंमें समान रूपसे रहनेवाला, एकमात्र पुरुष, जो कभी बदलताही नहीं, वह न तो वेदोंके कर्मकाण्डमें और न तार्किकोंके मत में किसीके द्वारा जाना गया है – वही सबका आत्मा है।

अतः सः न केनचित् प्रत्याख्यातुं शक्यः विधि-शेषत्वं वा नेतुम्।

इसलिए उसे न तो कोई नकार सकता है और न 'ऐसा करो' कहनेवाले किसी वाक्यका अङ्ग बना सकता है।

आत्मत्वात् एव च सर्वेषाम् – न हेयः न अपि उपादेयः।

तथा सबका आत्मा होनेके कारण ही वह न छोड़नेयोग्य है, न लेनेयोग्य।

सर्वं हि विनश्यत् विकारजातं पुरुषान्तं विनश्यति।

बदलनेवाले सभी पदार्थ नष्ट होते समय पुरुषको पीछे छोड़ते हुए ही नष्ट होते हैं।

पुरुषः हि विनाश-हेतु-अभावात् अविनाशी; विक्रिया-हेतु-अभावात् च कूटस्थ-नित्यः; अतः एव नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभावः।

क्योंकि पुरुषका विनाश होनेका कोई कारण न होनेसे वह अविनाशी है और उसमें किसी प्रकारका बदलाव होनेका कोई कारण न होनेसे वह न बदलनेवाला नित्य है; और इसीलिए नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाववाला है।

तस्मात् "पुरुषात् न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः" (कठ०१/३/११)  
"तं तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" (बृ०३/९/२६) इति च औपनिषदत्व-  
विशेषणं पुरुषस्य उपनिषत्सु प्राधान्येन प्रकाश्यमानत्वे उपपद्यते।

इसीलिए "पुरुषसे श्रेष्ठ कुछभी नहीं है, वही आखिरी मञ्जिल है, वही पानेयोग्य अन्तिम पुरुषार्थ है" (कठ०१/३/११), इस प्रकारके वचन सयुक्तिक हैं; और "मैं तो उपनिषदोंमें बताये उस पुरुषके बारेमें पूछता हूँ" (बृ०३/९/२६) इत्यादि वचनोंमें जो 'उपनिषदोंमें पायेजाने'की बात कही है, वह भी प्रधानतः उपनिषदोंमेंही प्रकाशित होना माननेपर ही सयुक्तिक है।

अतः भूत-वस्तु-परः वेद-भागः न अस्ति इति वचनं साहस-मात्रम्।

इसलिए 'जो पहलेसे है, उसीको प्रदर्शित करनेवाला वेदोंका कोई अंश नहीं है', यह कहना निरा साहसमात्र है।

यत् अपि शास्त्र-तात्पर्य-विदाम् अनुक्रमणम् - "दृष्टः हि तस्य अर्थः  
कर्म-अवबोधनम्" इति एवम् आदि, तत् धर्म-जिज्ञासा-विषयत्वात् विधि-  
प्रतिषेध-शास्त्र-अभिप्रायं द्रष्टव्यम्।

"कर्मका बोध करा देना ही वेदोंका स्पष्ट अर्थ है" इत्यादि जो शास्त्रोंका तात्पर्य जाननेवाले लोगोंके वचन दिखाये गये, उनका विषय 'धर्म-विचार' होनेके कारण वे वचन 'ऐसा करो, ऐसा न करो' बतानेवाले शास्त्रोंके उद्देश्यसे ही समझने चाहिए।

अपि च "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यम् अतत्-अर्थानाम्" (जै०सू०  
१/२/१) इति एतत् एकान्तेन अभ्युपगच्छतां भूत-उपदेशानाम् आनर्थक्य-  
प्रसङ्गः।

नहीं तो "वेद क्रिया करानेवाले होनेके कारण उस प्रकारका अर्थ जिनसे नहीं निकलता वे वाक्य अर्थहीन होते हैं" (जै०सू० १/२/१) इसे निरपवाद सर्वत्र लागू करनेवालोंको पहलेसे होनेवाली वस्तुओंको बतानेवाले वेदवाक्य निरर्थक मानने पड़ेंगे।

प्रवृत्ति-निवृत्ति-विधि-तत्-शेष-व्यतिरेकेण भूतं चेत् वस्तु उपदिशति  
भव्यार्थत्वेन, कूटस्थनित्यं भूतं न उपदिशति इति कः हेतुः।

‘करो’ या ‘न करो’ बतानेवाले या उनके अंगभूत वचनोंको छोड़कर, जो वस्तु पहलेसे है, उसका उपदेश ‘भविष्यमें काम आनेवाली है’ इसलिए अगर वेदवचन करते हों तो कभी न बदलनेवाली नित्य वस्तुका उपदेश वेदवचन नहीं करते, यह किस आधार पर सोचा जाता है?

न हि भूतम् उपदिश्यमानं क्रिया भवति।

क्योंकि जो वस्तु पहलेसे है, उसका उपदेश किया जानेसे वह ‘क्रिया’ नहीं बन जाती अक्रियात्वे अपि भूतस्य क्रिया-साधनत्वात् क्रियार्थः एव भूत-उपदेश इति चेत्; न एष दोषः।

यदि कहो कि क्रिया न बन जानेपर भी जो वस्तु पहलेसे है, वह क्रियामें उपयोगी होनेसे उस क्रियाके लिए ही उसका उपदेश किया जाता है, तो भी उससे हमारा कहना गलत नहीं होता।

क्रियार्थत्वे अपि क्रिया-निर्वर्तन-शक्तिमत् वस्तु उपदिष्टम् एव।

क्रियाके लिए होने पर भी जो क्रियाका साधन बन सकती है, ऐसी वस्तुका उपदेश तो कियाही जाता है।

क्रियार्थत्वं तु प्रयोजनं तस्या।

उसका प्रयोजन तो क्रियाके लिए ही होता है।

न च एतावता वस्तु अनुपदिष्टं भवति।

किन्तु इससे वस्तुका उपदेश नहीं किया गया, ऐसा तो नहीं हुआ।

यदि नाम उपदिष्टं किं तव तेन स्यात् इति।

यदि मान लो कि उपदेश किया गया है, तो इससे तुम्हारा क्या बनता है?

उच्यते – अनवगत-आत्मवस्तु-उपदेशः च तथा एव भवितुम् अर्हति।

बताते हैं – जिसका ज्ञान नहीं है, उस वस्तु का उपदेश भी उसी प्रकार होता है।

तत्-अवगत्या मिथ्या-ज्ञानस्य संसार-हेतोः निवृत्तिः प्रयोजनं क्रियते इति अविशिष्टम् अर्थवत्त्वं क्रिया-साधन-वस्तु-उपदेशेन।

उसे जानलेनेसे संसारका कारण जो मिथ्या ज्ञान, उसका हट जाना – यह प्रयोजन



सिद्ध हो जाता है, इसलिए उसका उपदेश उसीप्रकार सार्थक होता है जिस प्रकार क्रिया साधनेवाली वस्तुका उपदेश।

अपि च 'ब्राह्मणः न हन्तव्यः' इति च एवम्-आद्या निवृत्तिः उपदिश्यते।

और भी - "ब्राह्मणको मत मारो", इस प्रकार के क्रियासे हटानेवाले वेदवाक्यभी हैं।

न च सा क्रिया, न अपि क्रिया-साधनम्।

वह न तो कोई क्रिया है, न क्रिया का साधन।

अ-क्रियार्थानाम् उपदेशः अनर्थकः चेत् 'ब्राह्मणः न हन्तव्यः' इत्यादि निवृत्ति-उपदेशानाम् आनर्थक्यं प्राप्तम्।

जो क्रियाके लिए न हो उनका उपदेश निरर्थक मानने पर "ब्राह्मणको मत मारो" इसप्रकारके क्रियासे हटानेवाले उपदेश निरर्थक माने जाएँगे।

तत् च अनिष्टम्।

और वह तो हानिकारक है।

न च स्वभाव-प्राप्त-हन्ति-अर्थ-अनुरागेण नञः शक्यम् अप्राप्त-क्रियार्थत्वं कल्पयितुं हनन-क्रिया-निवृत्ति-औदासीन्य-व्यतिरेकेण।

स्वभावगत दोषसे जो 'मारने'की क्रिया के प्रति मन का झुकाव हुआ, उसके प्रति 'मत' शब्दका प्रयोग हनन क्रियाको मनसे हटानेसे जो उदासीनता प्राप्त हुई, उसके अतिरिक्त किसी अप्राप्त क्रियाके अर्थमें उसकी कल्पना नहीं की जा सकती।

नञः च एष स्वभावः यत् स्व-सम्बन्धिनः अभावं बोधयति इति।

'मत' शब्दका यही स्वभाव है कि वह जिस (क्रिया)के प्रति प्रयुक्त हुआ, उस(क्रिया) का अभाव जता दे।

अभाव-बुद्धिः च औदासीन्ये कारणम्, सा च दग्ध-इन्धन-अग्निवत् स्वयमेव उपशाम्यति।

और अभावबोधके कारण उदासीनता होती है और वह इन्धनके जल जानेपर जैसे अग्नि शान्त होती है, वैसे ही स्वयं ही शान्त हो जाती है।

तस्मात् प्रसक्त-क्रिया-निवृत्ति-औदासीन्यम् एव 'ब्राह्मणः न हन्तव्यः' इति आदिषु प्रतिषेधार्थं मन्यामहे, अन्यत्र-प्रजापति-व्रत-आदिभ्यः।

इसलिए ब्रह्मचारियोंके लिए विहित जो प्रजापति-व्रत अर्थात् सूर्यदेवताका व्रत है, उस

तरहके प्रसंगोंको छोड़कर, "ब्राह्मणको मत मारो" इत्यादिमें जो क्रिया न करनेका निर्देश है, वह उस क्रियासे मनको हटानेसे होनेवाली उदासीनता के ही लिए होता है, यही हमारी मान्यता है।

तस्मात् पुरुषार्थ-अनुपयोगी उपाख्यान-आदि-भूतार्थ-वाद-विषयम्  
आनर्थक्य-अभिधानं द्रष्टव्यम्।

इसलिए पुरुषकी प्रयोजनसिद्धि के लिए जो उपयोगी न हो, ऐसे स्तुतिके लिए सुनाये जानेवाले कहानी-किस्सोंके बारेमें 'निरर्थक' शब्दका प्रयोग समझना होगा।

यत् अपि उक्तं - 'कर्तव्य-विधि-अनुप्रवेशम्-अन्तरेण वस्तुमात्रम्  
उच्यमानम् अनर्थकं स्यात् "सप्तद्वीपा वसुमती" इति-आदिवत् इति, तत्  
परिहृतम्, रज्जुः इयं न अयं सर्पः इति वस्तुमात्र-कथने अपि प्रयोजनस्य  
दृष्टत्वात्।

और यह जो कहा कि 'करो' बतानेवाले वचनोंके अंग बनायेबिना 'पृथिवी सात द्वीपोंवाली है' के समान केवल वस्तुको बतानेवाले वाक्य निरर्थक होते हैं, उसका निराकरण किया जा चुका है, क्योंकि, 'यह रस्सी है, साँप नहीं है' इस प्रकार वस्तु को बतानेवाले वाक्यों की भी सफलता देखी गयी है।

ननु श्रुत-ब्रह्मणः अपि यथापूर्वं संसारित्व-दर्शनात् न रज्जु-स्वरूप-  
कथनवत् अर्थवत्त्वम् इति उक्तम्।

शंका होती है कि, ब्रह्मके बारेमें सुनकर भी पहलेके समान सांसारिकता बना रहता है, यह देखनेसे यही कहना पड़ता है कि रस्सी और साँप को बतानेवाले वाक्यके समान उसकी सार्थकता नहीं है।

अत्र उच्यते - न अवगत-ब्रह्म-आत्म-भावस्य यथापूर्वं संसारित्वं शक्यं  
दर्शयितुं वेद-प्रमाण-जनित-ब्रह्म-आत्म-भाव-विरोधात्।

यहाँ यही कहना है कि, जिसने ब्रह्मको ही अपनी असलियत के रूपमें जानलिया, उसका पहलेजैसा सांसारिकता नहीं दिखाया जा सकता, क्योंकि उस सांसारिकताका वेदरूपी ज्ञानसाधन से उत्पन्न 'ब्रह्मही आत्मा है' इस ज्ञानसे विरोध है।

न हि शरीर-आदि-आत्म-अभिमानिनः दुःख-भय-आदिमत्त्वं दृष्टम् इति  
तस्य एव वेद-प्रमाण-जनित-ब्रह्म-आत्म-अवगमे तत्-अभिमान-निवृत्तौ  
तत् एव मिथ्या-ज्ञान-निमित्तं दुःख-भय-आदिमत्त्वं भवति इति शक्यं  
कल्पयितुम्।

शरीर आदिमें ही अपनी असलियत देखनेवालेमें दुःख, भय आदिका होना पाया जाता है, इसलिए वेदरूपी ज्ञानसाधनके द्वारा ब्रह्मको अपनी असलियतके रूपमें जानलेनेसे उसका वह गलत ज्ञान निकल जानेके बाद, उस गलत ज्ञानके कारण हुए दुःख, भय आदि उसमें बने रहेंगे, यह कल्पना नहीं की जा सकती।

न हि धनिनः गृहस्थस्य धन-अभिमानिनः धन-अपहार-निमित्तं दुःखं दृष्टम् इति तस्य एव प्रव्रजितस्य धन-अभिमान-रहितस्य तत् एव धन-अपहार-निमित्तं दुःखं भवति।

कोई धनवान गृहस्थ हो और उसका धनके प्रति 'मेरा' बोध हो, तो उसका धन चुरा लिये जाने पर उसे दुःख होता है, यह देखा जाता है, तो उसीके संन्यासी बन जाने पर धनके प्रति 'मेरा' बोध न रहनेसे, उस धन की चोरी होने पर उसे दुःख नहीं होता।

न च कुण्डलिनः कुण्डलित्व-अभिमान-निमित्तं सुखं दृष्टम् इति तस्य एव कुण्डल-वियुक्तस्य कुण्डलित्व-अभिमान-रहितस्य तत् एव कुण्डलित्व-अभिमान-निमित्तं सुखं भवति।

कुण्डल पहननेवाले को उस कुण्डल के प्रति 'मेरा' बोध होनेका जो सुख होता है, वही कुण्डल निकाल देनेपर उस कुण्डल के प्रति 'मेरा' बोध निकल जाने से, उस कुण्डल के प्रति 'मेरा' बोध होनेका सुख नहीं देखा जाता।

तत् उक्तं श्रुत्या - "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः"  
(छा०८/१२/१) इति।

यही वेदोंने कहा है - "जिसे शरीर(बोध) नहीं है, उसे सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते"(छा०८/१२/१)।

शरीरे पतिते अशरीरत्वं स्यात् न जीवतः इति चेत्।

'शरीर गिर जानेके बाद ही शरीरबोध नहीं रहेगा, जीवित रहते हुए नहीं', ऐसा कहें तो?

ना।

वह ठीक नहीं होगा।

स-शरीरत्वस्य मिथ्या-ज्ञान-निमित्तत्वात्।

क्योंकि शरीरबोधका होना तो गलत ज्ञानके कारण होता है।

न हि आत्मनः शरीर-आत्मा-अभिमान-लक्षणं मिथ्या-ज्ञानं मुक्त्वा  
अन्यतः स-शरीरत्वं शक्यं कल्पयितुम्।

क्योंकि 'शरीरही मेरी असलियत है', इस प्रकारके गलत ज्ञान को छोड़कर आत्मामें  
शरीरबोधके होने की कल्पना नहीं की जा सकती।

नित्यम् अशरीरत्वम् अ-कर्म-निमित्तत्वात् इति अवोचाम।

शरीरबोध का न होना तो नित्यस्वरूप है, वह किसी कर्मके कारण नहीं होता, यह हम  
कह चुके हैं।

तत्-कृत-धर्म-अधर्म-निमित्तं सशरीरत्वम् इति चेत्, न।

'उसके द्वारा किये हुए पुण्य-पापोंके कारण शरीरबोध होता है', ऐसा कहो तो वह  
ठीक नहीं है।

शरीर-सम्बन्धस्य असिद्धत्वात् धर्म-अधर्मयोः आत्म-कृतत्व-असिद्धः।  
आत्माका शरीरसे सम्बन्धही नहीं बनता, इसलिए पुण्य-पापोंका आत्माद्वारा किया  
जाना भी नहीं बनता।

शरीर-सम्बन्धस्य धर्म-अधर्मयोः तत्-कृतत्वस्य च इतर-इतर-  
आश्रयत्व-प्रसङ्गात् अन्ध-परम्परा एषा अनादित्व-कल्पना।

आत्माका शरीरसे सम्बन्ध होना और उससे पुण्य-पापोंका किया जाना ये एक-दूसरे  
पर निर्भर होने के कारण उनको अनादि मानना तो अन्धी परम्परा मात्र है।

क्रिया-समवाय-अभावात् च आत्मनः कर्तृत्व-अनुपपत्तेः।

इसके सिवाय, आत्माका क्रियासे सम्बन्धही न बननेके कारण उसमें 'कर्तापन' होनाही  
युक्तिसंगत नहीं है।

संनिधान-मात्रेण राज-प्रभृतीनां दृष्टं कर्तृत्वम् इति चेत्, न।

निकटमें उपस्थित होनेहीसे राजा आदिमें 'कर्तापन' देखा जाता है, ऐसा कहें, तो वह  
ठीक नहीं है।

धन-दान-आदि-उपार्जित-भृत्य-सम्बन्धित्वात् तेषां कर्तृत्व-उपपत्तेः।

पैसे देना आदि के द्वारा नौकर बना लेने का सम्बन्ध बन जाने पर ही उनमें कर्तापन  
बन पाता है।

न तु आत्मनः धन-दान-आदिवत् शरीर-आदिभिः स्व-स्वामिभाव-

सम्बन्ध-निमित्तं किञ्चित् शक्यं कल्पयितुम्।

आत्मामें, पैसे देना आदि के समान किसी कारणसे शरीर आदिके साथ कोई मालकीयत का सम्बन्ध बना लेनेकी कल्पना नहीं की जा सकती।

मिथ्या-अभिमानः तु प्रत्यक्षः सम्बन्ध-हेतुः।

दूसरी ओर, 'मैं'रूप गलत ज्ञान ही उस सम्बन्धका कारण है, यह तो साफ ही नजर आता है।

एतेन यजमानत्वम् आत्मनः व्याख्यातम्।

आत्मामें जो 'करानेवाले'की (मिथ्या)प्रतीति है, वहभी इसके द्वारा समझा दी गयी।

अत्र आहुः - देह-आदि-व्यतिरिक्तस्य आत्मनः आत्मीये देह-आदौ अहम्

अभिमानः गौणः, न मिथ्या इति चेत्, न।

इस विषयमें कहना है कि - 'जो आत्मा देह आदिसे अलग है, उसका अपने देह आदिमें जो 'मैं'पन है, वह गौण है, झूठा नहीं', ऐसा यदि कहो तो वह सही नहीं होगा।

प्रसिद्ध-वस्तु-भेदस्य गौणत्व-मुख्यत्व-प्रसिद्धेः।

गौण होना या मुख्य होना तो वहीं बनता है जहाँ वस्तुओंमें भेद स्पष्ट रूपसे जाना गया हो।

यस्य हि प्रसिद्धः वस्तु-भेदः यथा केसर-आदिमान्-आकृति-विशेषः  
अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां सिंह-शब्द-प्रत्यय-भाक् मुख्यः अन्यः सिद्धः, ततः  
च अन्यः पुरुषः प्रायिकैः क्रौर्य-शौर्य-आदिभिः सिंह-गुणैः सम्पन्नः  
सिद्धः; तस्मिन् पुरुषे सिंह-शब्द-प्रत्ययौ गौणौ भवतः, न अप्रसिद्ध-  
वस्तु-भेदस्य।

जहाँ वस्तुओंमें भेद स्पष्ट रूपसे जाना गया हो, जैसे केसर आदिवाला और विशिष्ट रूपवाला होनेसे जो सिंह कहलाता है और वैसा न होनेसे सिंह नहीं कहलाता, वही सिंह शब्दका मुख्य अर्थ जाना गया है, और उससे अलग क्रूरता, शौर्य आदि सिंहके बहुतसे गुणोंवाला मनुष्य अलगसे जाना गया है, उस मनुष्यमें सिंह शब्दका प्रयोग तथा वैसी प्रतीति गौण होगी - जिन वस्तुओंका अलग-अलग होना नहीं जाना गया है, उनमें ऐसी गौण प्रतीति या शब्दप्रयोग नहीं होगा।

तस्य तु अन्यत्र अन्य-शब्द-प्रत्ययौ भ्रान्ति-निमित्तौ एव भवतः न गौणौ।

वहाँ तो अलग वस्तुमें अलग शब्दकी प्रतीति भ्रमके कारण ही होगी, वह गौण नहीं होगी।  
 यथा मन्द-अन्धकारे स्थाणुः अयम् इति अगृह्यमाण-विशेषे पुरुष-शब्द-  
 प्रत्ययौ स्थाणु-विषयौ; यथा वा शक्तिकायाम् अकस्मात् रजतम् इदम्  
 इति निश्चितौ शब्द-प्रत्ययौ; तद्वत् देह-आदि-सङ्घाते अहम् इति  
 निरूपचारेण शब्द-प्रत्ययौ आत्म-अनात्म-अविवेकेन-उत्पद्यमानौ कथं  
 गौणौ शक्यौ वदितुम्।

जैसे धुँधले अन्धकारमें 'यह ठूँठ है' ऐसी विशिष्ट प्रतीति न होनेपर उस ठूँठके बारेमें  
 'मनुष्य' शब्दसे होनेवाली प्रतीति या सीपमें एकाएक 'यह चाँदी है' ऐसी शब्दोंवाली  
 पक्की प्रतीति होती है, वैसीही देह आदिके जोड़में 'यह मैं हूँ' ऐसी जो सीधी(गुण  
 इत्यादिको न सोचकर) प्रतीति और वैसा शब्दप्रयोग होता है, वह आत्मा और अनात्मा  
 की अलग-अलग पहिचान न होनेसे उत्पन्न होती है, उसे गौण कैसे कहा जा सकता है।

आत्म-अनात्म-विवेकिनाम् अपि पण्डितानाम् अजा-विपालानाम् इव  
 अविविक्तौ शब्द-प्रत्ययौ भवतः।

आत्मा और अनात्मा का भेद बौद्धिक तौर पर जाननेवाले (तथाकथित) पण्डितोंको भी  
 गड़रियोंकेही समान आत्मा और अनात्मा शब्दोंसे अलग-अलग अनुभव नहीं होता।

तस्मात् देह-आदि-व्यतिरिक्त-आत्मा-अस्तित्व-वादिनां देह-आदौ  
 अहम्-प्रत्ययः मिथ्या एव, न गौणः।

इसलिए देह आदिसे आत्माको अलग माननेवालोंकी देह आदिमें 'मैं'की प्रतीति झूठ  
 ही है, गौण नहीं।

तस्मात् मिथ्या-प्रत्यय-निमित्तत्वात् सशरीरस्य सिद्धं जीवतः अपि विदुषः  
 अशरीरत्वम्।

इसलिए, 'शरीरवाला' होनेका बोध गलत ज्ञान के कारण होनेसे, सही ज्ञानवालोंमें  
 जीवित होते हुएभी शरीरबोध नहीं होता।

तथा च ब्रह्मविद्-विषया श्रुतिः - "तत् यथा अहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता  
 प्रत्यस्ता शयीता एवम् एव इदं शरीरं शेते, अथ अयम् अशरीरः अमृतः  
 प्राणः ब्रह्म एव तेज एव"(बृ०४/४/७) इति।

इसी प्रकार वेदोंने ब्रह्म जाननेवालोंके बारेमें कहा है - "जिस प्रकार साँप ने छोड़ी  
 हुई केंचुली बिलमें मरी हुई पड़ी रहती है, उसी प्रकार यह शरीर पड़ा रहता है, और

यह ब्रह्मज्ञ शरीरबोधरहित, अमृत, प्राण है, ब्रह्म ही है, तेज ही है" (बृ०४/४/७)।

"सचक्षुः अचक्षुः इव सकर्णः अकर्णः इव सवाक् अवाक् इव समनाः अमनाः इव सप्राणः अप्राणः इव" इति च।

और ऐसा भी कहा है – "आँखोंवाला दिखाई देने परभी बिना आँखोवालेके समान है, कानोंवाला दिखाई देने परभी बिना कानोंवालेके समान है, वाणीवाला दिखाई देने परभी बिना वाणीवालेके समान है, मनवाला दिखाई देने परभी बिना मनवालेके समान है, प्राणवाला दिखाई देने परभी बिना प्राणवालेके समान है"।

स्मृतिः अपि च – "स्थितप्रज्ञस्य का भाषा" (भ०गी०२/५४) इति आद्या स्थितप्रज्ञ-लक्षणानि आचक्षाणा विदुषः सर्व-प्रवृत्ति-असम्बन्धं दर्शयति।

स्मृति भी "स्थितप्रज्ञ की पहिचान क्या है" (भ०गी०२/५४) इत्यादि स्थितप्रज्ञकी पहिचान बताती हुई यही बताती है कि ज्ञानी का किसीभी प्रवृत्तिसे कोई सम्बन्ध नहीं होता।

तस्मात् न अवगत-ब्रह्म-आत्मभावस्य यथा-पूर्वं संसारित्वम्।

इसलिए ब्रह्मको अपनी असलियत के रूपमें जानलेनेपर पहिले जैसी सांसारिकता नहीं होती।

यस्य तु यथापूर्वं संसारित्वं न असौ अवगत-ब्रह्मात्मभाव इति अनवद्यम्।

जिसकी पहिले जैसा सांसारिकता होती है, उसने ब्रह्मको अपनी असलियत के रूपमें नहीं जाना है, यही कहना समीचीन होगा।

यत् पुनः उक्तं श्रवणात् पराचीनयोः मनन-निदिध्यासनयोः दर्शनात् विधिशेषत्वं ब्रह्मणः न स्वरूप-पर्यवसायित्वम् इति, तत् न; श्रवणवत् अवगति-अर्थत्वात् मनन-निदिध्यासनयोः।

और जो पहले कहा था कि श्रवणके बाद मननकी तथा निदिध्यासनकी बात कही गयी है, इससे यही जाना जाता है कि ब्रह्म जाननेकी क्रियाका अंग है, श्रवण का स्वरूपबोधमें अपनेआप पर्यवसान नहीं होता – वह ठीक नहीं है, क्योंकि श्रवण के समान मनन और निदिध्यास भी जानने-पानेके लिए ही होते हैं।

यदि हि अवगतं ब्रह्म अन्यत्र विनियुज्येत भवेत् तदा विधिशेषत्वम्; न तु तत् अस्ति; मनन-निदिध्यासनयोः अपि श्रवणवत् अवगति-अर्थत्वात्।

यदि ब्रह्मको जानने के बाद उसे अन्य किसी क्रिया में लगाया जाता तो वह क्रियाका अंग बन सकता था, परन्तु वैसा नहीं है, क्योंकि श्रवण के समान मनन और निदिध्यास भी जानने-पानेके लिए ही होते हैं।

तस्मात् न प्रतिपत्ति-विधि-विषयतया शास्त्र-प्रमाणकत्वं ब्रह्मणः सम्भवति  
इति अतः स्वतन्त्रम् एव ब्रह्म शास्त्र-प्रमाणकत्वं वेदान्त-वाक्य-समन्वयात्  
इति सिद्धम्।

ऐसी बात है, इसलिए 'जानो', इसप्रकार किसी क्रियाका उपदेश करनेसे ब्रह्मको  
जानने का साधन वेद नहीं हो सकते, बल्कि स्वतन्त्रतासे ही वेद ब्रह्मको जानने का  
साधन हैं, क्योंकि - वेदान्तके हर वाक्यका क्या स्थान है, यह देखनेसे उन सभीका  
अन्तिम तात्पर्य ब्रह्मका ज्ञान कराने में है, यही निष्कर्ष निकलता है।

एवं च सति "अथ अतः ब्रह्म-जिज्ञासा" इति तत्-विषयः पृथक्  
शास्त्रारम्भ उपपद्यते।

ऐसा होने के कारण ही "अब इसलिए सबसे परे और सबमें व्याप्त, हम सभी की  
निजी असलियत, ऐसे जगत्कारण परमात्मा को जानने की, उसे प्रत्यक्ष अनुभव कर  
लेने की, वह प्राप्त होने तक न रुकनेवाली इच्छा होती है, होनी चाहिए और उसे पूर्ण  
करने का प्रयास किया जा रहा है", इस प्रकार उस विषयमें अलगसे शास्त्रका आरम्भ  
करना समीचीन हुआ।

प्रतिपत्ति-विधि-परत्वे हि "अथ अतः धर्म-जिज्ञासा" इति एव  
आरब्धत्वात् न पृथक् शास्त्रम् आरभ्येत।

'जानो', इसप्रकार किसी क्रियाका उपदेश ही करना होता तो "अब इसलिए धर्मके  
बारेमें जाननेकी इच्छा (पूरी की जाती है)" इस तरह आरम्भ किया जा चुका होनेके  
कारण अलगसे शास्त्रका आरम्भ करना नहीं बनता।

आरभ्यमाणं च एवम् आरभ्येत - "अथ अतः परिशिष्ट-धर्म-जिज्ञासा"  
इति - "अथ अतः क्रत्वर्थ-पुरुषार्थयोः जिज्ञासा" (जै० ४/१/१) इतिवत्।

यदि आरम्भ किया भी जाता तो "अब इसलिए धर्मके बारेमें बची हुई बातें जानने की  
इच्छा (पूरी की जाती है)", इस तरह आरम्भ करते - जैसा कि "बड़े यज्ञोंके लिए  
क्या चाहिए और पुरुषके लिए क्या चाहिए, इसे जानने की इच्छा (पूरी की जाती है)"  
(जै० ४/१/१) में किया गया है।

ब्रह्म-आत्मा-ऐक्य-अवगतिः तु अप्रतिज्ञाता इति तदर्थः युक्तः शास्त्रारम्भः  
- "अथ अतः ब्रह्म-जिज्ञासा" इति।

उस धर्ममीमांसाशास्त्रमें ब्रह्म और आत्मा एकही हैं, यह जानने की बात तो कही नहीं  
गयी है, इसलिए उस हेतुसे "अब इसलिए सबसे परे और सबमें व्याप्त, हम सभी  
की निजी असलियत, ऐसे जगत्कारण परमात्मा को जानने की, उसे प्रत्यक्ष अनुभव



कर लेने की, वह प्राप्त होने तक न रुकनेवाली इच्छा होती है, होनी चाहिए और उसे पूर्ण करने का प्रयास किया जा रहा है”, इस प्रकार उस विषयमें अलगसे शास्त्रका आरम्भ करना समीचीन हुआ।

तस्मात् "अहम् ब्रह्म अस्मि" इति एतत् अवसाना एव सर्वे विधयः सर्वाणि च इतराणि प्रमाणानि।

इसलिए क्रियाका उपदेश करनेवाले सारे वेदवाक्य तथा ज्ञान के अन्य सारे साधन 'मैं ब्रह्म हूँ' इसमें समाप्त हो जाते हैं।

न हि अहेय-अनुपादेय-अद्वैत-आत्मा-अवगतौ सत्याम् निर्विषयाणि अप्रमातृकाणि च प्रमाणानि भवितुम् अर्हन्ति इति।

क्योंकि जो न छोड़नेयोग्य है, न लेनेयोग्य और जिससे अलग कुछ है ही नहीं, ऐसे एकमेव आत्मा को जानलेने पर न कोई जानने का विषय रह जाता है, न 'जाननेवाला', तो वहाँ जानने के साधनही कैसे रह सकते हैं।

अपि च आहुः -

“गौण-मिथ्यात्मनः असत्त्वे पुत्र-देह-आदि-बाधनात्।  
सत्-ब्रह्म-आत्मा अहम् इति एवं बोधे कार्यं कथं भवेत्॥  
अन्वेष्टव्य-आत्म-विज्ञानात्-प्राक् प्रमातृत्वम् आत्मनः।  
अन्विष्टः स्यात् प्रमाता एव पाप्म-दोष-आदि-वर्जितः॥  
देह-आत्म-प्रत्ययः यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः।  
लौकिकं तद्वत् एव इदं प्रमाणं तु आ-आत्म-निश्चयात्॥”

इति(सुन्दरपाण्ड्य-कारिका)।

कहा भी है -

“मैं अन्तिम सत्यस्वरूप आत्मा हूँ” इस प्रकार ज्ञान होनेपर पुत्र, देह इत्यादि का अस्तित्वबोध न रहनेसे गौण तथा झूठ 'मैं'पना नहीं रहता, फिर उसका कार्य भी कैसे बच सकता है। जिस आत्मा को जानना है, उसे जब तक नहीं जाना, तभी तक वह 'जाननेवाला' प्रतीत हो सकता है; परन्तु जाननेवालेके सत्यस्वरूप का ज्ञान होने पर वही पाप आदि दोषोंसे रहित परमात्मा जाना जाता है. आत्मसाक्षात्कार होने तक जैसे देह ही आत्मा है, यह कल्पना सत्य-सी मान ली जाती है, उसी प्रकार ज्ञानके लौकिक साधन भी सही मानने होते हैं।”(सुन्दरपाण्ड्य-कारिका)